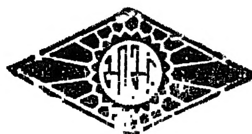
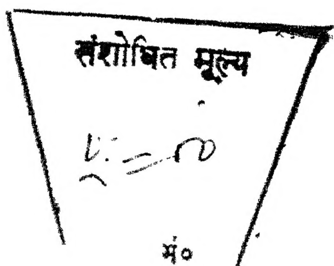
इक्कीस कहानियाँ

संपादक

राय कृष्णदास

वाचस्पति पाठक





ग्रन्थ-संख्या

दसवाँ संस्करण	सं० २०२२ वि०
मूल्य	चार रुपये पचास पैसे
प्रकाशक तथा विक्रेता	भारती भंडार लीडर प्रेस, इलाहाबाद
मुद्रक	बी. आर. मेहता लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रकाशक का वक्तव्य

'इक्कीस कहानियाँ' लेकर अपने कहानी-प्रेमी पाठकों के सम्मुख आने में हार्दिक आनन्द हो रहा है, क्योंकि इसकी कहानियों के चुनाव में संग्रह के योग्य और सहृदय संपादकों ने विशेष श्रम किया है—कई सौ कहानियों में से छाँट कर ये प्रतिनिधि कहानियाँ इस संग्रह में गुंफित की गयी हैं।

जिन कहानीकारों और प्रकाशकों ने हमें इस संग्रह में अपनी कहानियाँ देने की अनुमति प्रदान की है, उनके हम आभारी हैं।

इस संग्रह का 'आमुख' और 'ये इक्कीस कहानियाँ'—राय कृष्णदास ने तथा लेखकों का परिचय श्री वाचस्पति पाठक ने लिखा है। ये अंश, हम आशा करते हैं, कहानी-साहित्य-सम्बन्धी परिज्ञान बढ़ाने में एवं इन इक्कीस कहानियों की विशेषताओं पर प्रकाश डालने में उपादेय पाये जायेंगे।

श्रावण शुक्ल,
१९९८ वि०

—प्रकाशक

क्रम

यशपाल—परदा

इलाचन्द्र जोशी—रेल की रात

भगवतीप्रसाद वाजपेयी—निंदिया लाग

विनोदशंकर व्यास—विधाता

वाचस्पति पाठक—कागज की टोपी

जैनेन्द्रकुमार—पत्नी

सियारामशरण गुप्त—झूठ-सच

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार—हूक

भगवतीचरण वर्मा—दो बाँके

महादेवी वर्मा—घीसा

राधाकृष्ण—प्रोफेसर भीमभंटाराव

अज्ञेय—रोज़

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'—पिंजरा

अमृतलाल नागर—एटम बम

आमुख

मानव ने जिस दिन से भाषा द्वारा अपने भावों की अभिव्यक्ति आरम्भ की होगी, सम्भवतः उसी दिन से उसने कहानी कहना और सुनना भी आरम्भ कर दिया होगा। दूसरे शब्दों में—

कहानी की परंपरा

दस हजार बरस से कम पुरानी नहीं, अधिक भले ही हो।

विचित्र और आश्चर्य-वार्ता के कहने और सुनने, दोनों में आनन्द आता है; [illegible], अतएव वैसी कहानियाँ उसके मनोरंजन ही नहीं, श्रद्धा-विश्वास की वस्तु भी थीं। इसी कारण संसार-भर के पुराने धार्मिक वाङ्मय की कथाएँ चमत्कारमय घटनाओं से भरी हुई हैं।

मनुष्यता के विकास के साथ-साथ कहानियों का रूप भी बदलता गया, किन्तु उसका कहानी-प्रेम ज्यों-का-त्यों बना रहा। फलतः तब से अब तक मनुष्य—बच्चा—जिस दिन से बात समझने लगता है, कहानी सुनना चाहता है; केवल सुनना नहीं चाहता, यदि बच्चे में तनिक भी कल्पना है, तो सुनाना भी चाहता है और, अन्त में स्वयं एक कहानी हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य-जीवन कहानी से गुँथा हुआ है। जीवन की कठोर वास्तविकता से ऊब कर जब वह एकदम किसी नये वातावरण में पहुँच कर विश्रान्ति और परिवर्तन चाहता है, तबगान की भाँति; कहानी ही उसका एक मुख्य सहारा होती है।

पुरानी कहानियों का रस मुख्यतः उनके घटना-चमत्कार के द्वारा उत्पन्न होता था। इसका यह तात्पर्य नहीं कि विचित्र कथा कहने वालों का युग बीत चुका—आज-कल के बड़े-से-बड़े कहानी-लेखकों में सिद्ध-हस्त अद्भुत कथा-लेखक भी हैं। वे भी वैसी ही लोकोत्तर और असम्भव बातें कहते हैं, जैसे दो-तीन हजार वर्ष पूर्व के कथाकार कहते थे। किन्तु दोनों में, कहने का ढंग इतना पृथक् है कि दोनों के स्वाद बिलकुल भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। जब कि पुराने कथाकार का उद्देश्य केवल कथा सुनाना और उसमें अद्भुत बातों के साथ-साथ आलंकारिक वर्णनों और वाक्यों का पुट देकर उसे मनोरंजक बनाना रहता था, तब आधुनिक आख्या-

चित्रकार चरित्रों के विकास, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं भावों के उत्थान-पतन को ही मुख्य ध्येय बनाता है। इस प्रकार उसकी कहानी का अद्भुत वा लोकोत्तर अंश केवल पृष्ठिका बन जाता है, अतः हम उसकी असम्भवता पर तर्क करने नहीं बैठते। दूसरी बात यह है कि कितनी ही प्राचीन कहानियों में जो चमत्कार मणि, मन्त्र, परी वा दैत्य-दानव के द्वारा दिखाये जाते थे, उनके लिए अब अनेक बार विज्ञान का आश्रय लिया जाता है। फिर भी इस प्रकार की कहानियों का, आधुनिक कहानी-साहित्य में बाहुल्य नहीं; यह उसकी एक शाखा-मात्र है। केवल प्रसंगवश उसकी इतनी चर्चा यहाँ की गयी है।

आधुनिक कहानी की विशेषता

जैसा कि हमने ऊपर कहा है, उसकी अभिव्यक्ति में है, चाहे उसकी शैली भाव-प्रधान हो वा तथ्य-प्रधान। कलाकार जो भी वस्तु (थीम) वा कथानक (प्लाट) लेता है, उसमें चरित्रों का विकास और मनोवृत्ति का निदर्शन यथेष्ट रूप में रखना है, जिसे हम कथा की नाटकीय व्यंजना कह सकते हैं। साथ ही आधुनिक कहानी के—

विधान (टेकनीक)

की एक मुख्य विशेषता यह है कि वह न तो—'एक था......' से आरम्भ होती है और न—'जैसे उनके दिन बीते, वैसे सबके बीतें' से समाप्त। लेखक उस स्थल से अपनी कहानी आरम्भ करता है, जहाँ से वह समझता है कि पाठक को सबसे अधिक आकृष्ट और प्रभावित कर सकेगा और अपनी कथा को अधिक-से-अधिक बल एवं सौन्दर्य प्रदान कर सकेगा। घटना-विन्यास की यह वक्रता भी बहुत कुछ नाटकीय विधान (टेकनीक) से ली गयी है। इसी प्रकार वह कहानी का अन्त भी उस ठिकाने पहुँचाकर कर देता है, जहाँ हमारे हृदय पर स्थायी-से-स्थायी रेखा उत्कीर्ण हो जाय। सच पूछिए तो आधुनिक कहानी की सबसे बड़ी सफलता उसके अन्त में है। आरम्भ चाहे थोड़ा शिथिल और दूभर हो, तो किसी प्रकार चल भी सकता है; किन्तु उसकी समाप्ति तो दुर्बल होनी ही न चाहिए, क्योंकि कलाकार उसे ठेठ अन्त तक तो पहुँचाता नहीं, केवल एक पराकाष्ठा (क्लाइमैक्स) तक पहुँचाकर छोड़ देता है। बस वह पराकाष्ठा न बन पड़ी कि कहानी फेल हो गयी।

ऐसी पराकाष्ठा के लिए कभी-कभी कहानी नदी के प्रवाह की भाँति एक

अतर्कित घुमाव घूम जाती है; जिसके कारण हमारे सामने एक बिलकुल नयी दुनिया आ खड़ी होती है, किंवा हमारा हृदय अन्त में जिस गम्भीर परिणाम की आशंका से धड़कता रहता है, उसके विपरीत एक बिलकुल हलके परिणाम में, कभी-कभी तो एक मजाक में, कहानी की पूर्ति होती है, मानो पहाड़ खोदने पर चुहिया निकल पड़ती है, और इससे हमें विशेष चमत्कार होता है।

कितनी ही कहानियों की पराकाष्ठा एक तनिक-से वाक्य वा जरा-सी घटना पर आधृत रहती है। कलाकार इसी तनिक-से वाक्य वा जरा-सी घटना को उपस्थित करने के लिए कई पृष्ठ का फूला-फैला प्रस्ताव तैयार कर डालता है। ऐसे प्रस्ताव में व्यापक सरसता और तोल (बैलेन्स) होना, कि वह कहीं से खले वा अखरे नहीं, कृती का कौशल है।

विधान की यह नवीनता पाश्चात्य की देन है, और सचमुच एक उत्कृष्ट देन है।[1] प्रायः सौ वर्ष पूर्व से वहाँ इसका आरम्भ हुआ। उसके पहलेवाली वहाँ की कहानियों में पर्याप्त कहानीपन है, अर्थात् उनका मेरुदण्ड कथानक (प्लाट) है। उसी की सफलता लेखक की सफलता है; किन्तु लगभग सौ वर्ष की ऐसी-ऐसी योरोपीय कहानियाँ एक अच्छी संख्या में मिल सकती है, जो आज भी आधुनिक कही जा सकती हैं।

'प्रसाद' जी ने एक बार इन पंक्तियों के लेखक से प्रसंगवश एक बात कही थी, जिसका भाव लेकर—

कहानी की परिभाषा

यों बनायी जा सकती है—आख्यायिका मे सौन्दर्य की एक झलक का रस है। मान लीजिए कि आप किसी तेज सवारी पर चले जा रहे हैं, रास्ते में एक गोल-मिटोल शिशु खेल रहा है; सुन्दरता की मूर्ति। उसकी झलक मिलते-न-मिलते भर में सवारी आगे निकल जाती है? किन्तु उतनी ही झलक ऐसी होती है कि उसकी स्थायी रेखा आपके अन्तर्पट पर अंकित हो जाती है। यही काम कहानी भी करती है।

यह आवश्यक नहीं कि कहानी का कथानक छोटा ही हो। कहानी की घट-

---

१. अपने यहाँ के अनेक दोहों और कवित्तों की बंदिश इस विधान के बहुत निकट है।

नाओं का रंगमंच उपन्यास से भी लम्बा हो सकता है। उदाहरण में 'प्रसाद' जी की आकाशदीप, इन्द्रजाल, नूरी और गुंडा कहानी याद आ रही है। इसके विपरीत कितनी ही कहानियों में कथानक और घटना का अभाव-सा रहता है। तो भी, एक बात में दोनों ही प्रकार की कहानियाँ समान होती हैं। उनका अंकन कलाकार कम-से कम रेखाओं द्वारा करता है—वह केवल उन्हीं रेखाओं का उपयोग करता है, जो सौन्दर्य की आधार हैं। ये विशिष्ट रेखाएँ ऐसी शक्तिशाली होती हैं कि अवान्तर रेखाओं को हठात् दरसा देती है। प्रेमचन्द जी के मतानुसार—"कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुंजाइश नहीं होती। यहाँ हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नहीं, वरन् उसके चरित्र का एक अंग दिखाना है।"

आधुनिक कहानी के उद्देश्य

के सम्बन्ध में भी अब कुछ विचार कर लेना चाहिए। आजकल भाँति-भाँति के वादों की धूम है। इनके विवाद में न पड़कर हम केवल इतना कहना चाहेंगे कि आख्यायिका, चाहे वह किसी लक्ष्य को सामने रखकर लिखी गयी हो, वा लक्ष्य-विहीन हो, मनोरंजन के साथ-साथ अवश्य किसी-न-किसी सत्य का उद्घाटन करती है। यह सत्य जितना आंशिक और एकदेशीय होगा, कहानी भी उसी अनुपात में निम्न श्रेणी की होगी; वह कुप्रवृत्तिजनक तक हो सकती है; किन्तु यदि वह सत्य देश और काल से मुक्त है, तो कहानी भी स्थायी साहित्य की वस्तु एवं स्वास्थ्य-कर होगी। एकाध उदाहरण लेकर इसे और स्पष्ट कर सकते हैं—'नारी स्वभाव से विलासप्रिय है'—यह एक बहुत ही संकुचित सत्य—नहीं, नहीं, सत्य का मिथ्याभास मात्र है; 'नारी स्वभाव से भाव-प्रवण है और पुरुष ने उसके इस स्वभाव का लाभ उठाकर, अपनी उच्छृंखलता की तुष्टि के लिए उसे विलासप्रिय बना डाला है, अन्यथा उसकी प्रवृत्ति त्याग और तपस्या-मूलक ही है'—यह एक व्यापक सत्य है। यदि कहानी पहले सूत्र को पकड़कर चलती है, तो वह एक उत्पाती रचना हो सकती है, यदि वह दूसरे सूत्र को आधार मान कर विकसित होती है, तो वह मानवता को दानवता के उस दलदल से उबारने के कारणों में हो सकती है, जिसमें आज मानवता बुरी तरह जा फँसी है।

ऊपर का उदाहरण मानव-प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखता है। अब मानव-जीवन के असली पहलू से सम्बन्धित एक सत्य को लीजिए—'दरिद्रता सब कष्टों की जननी है'—यह एक आंशिक सत्य है; रोग का निदान नहीं, एक लक्षण मात्र

है। निदान है मानव-समाज की आर्थिक योजना। वह एक विपत्ति है, जिसे मानवता ने आप गढ़ा है और आप अपने ऊपर लादा है और अब स्वयं उसके बोझ से दबी जा रही है। यदि कलाकार दरिद्रता को ही निदान मानकर चलता है, तो उसकी परिधि संकुचित है, किन्तु यदि वह बीमारी की जड़ तक पहुँच गया है, तो वह उसे—"उबरहिं अन्त न होहिं निबाहू, कालनेमि जिमि रावण राहू" के रूप में उद्घाटित करके हमारे नयनों को भी उद्घाटित कर देगा।

कलाकार का सत्य

सीमित और संकुचित नहीं है; अतएव एक मानवता की ही गुत्थियों में उलझा-जकड़ा नहीं रहता। उनका प्रत्येक अंकन एक सच्चा चित्र होगा।

किसी जंगली पशु के जीवन का एक पन्ना, किसी पक्षी के जीवन की एक घड़ी किसी फूल के जीवन के कुछ पहर, किसी रोड़े, पत्थर के जीवन की एक झलक—सारांश यह कि त्रिकालबाध्य सारे जड़-जंगम बाह्य जगत् से लेकर अन्तर्जगत् के द्वन्द्व तक कलाकार की अनुभूति सहानुभूति और अभिव्यक्ति के परे नहीं। जो जितना बड़ा कलाकार होगा, उसकी बिम्ब-ग्राहिता भी उतनी ही व्यापक और मार्मिक होगी। प्रसंगवश यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि बाह्य जगत् का अंकन मुख्यतः यथार्थ शैली द्वारा और अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण प्रायशः भावमूलक शैली द्वारा किया जाता है।

सत्य का स्फुटीकरण करने के लिए अथवा मिथ्या (अशिव) का मिथ्यात्व (अशिवत्व) दिखाने के लिए, कितनी ही बार कलाकार को—

मिथ्या का अंकन

भी करना पड़ता है। यहीं पता चलता है कि वह कलाकार है वा अन्यथा। कलाकार मिथ्या को मिथ्या ही दरसावेगा। वह अपनी आख्यायिका में एक क्षण के लिए भी हमें मिथ्या के प्रति अनुकूल न होने देगा; पतन का चित्र घिनौना ही अंकित करेगा; किन्तु यदि वह पतित के आचरितों को ऐसे शब्दों में अंकित करता है कि उन (आचरितों) के प्रति तीखी वितृष्णा होने के बदले हम आकृष्ट हों, तो वह मिथ्या को सत्य के रूप में चित्रित कर रहा है; अतः वह कलाकार नहीं कहा जा सकता, और चाहे जो कुछ कहा जाय। वह हमें रस नहीं प्रदान कर सका है, बदले में उसने मादकता प्रदान की है; हमें क्लोरोफार्म के सुगन्ध से मूर्च्छित किया है, पुष्प के सुगन्ध से उद्बुद्ध नहीं। इस सम्बन्ध में एक बात और है जो—

वास्तविक कलाकार की कसौटी

है, सर्वोपरि। मिथ्या को तो वह मिथ्या ही रखेगा, किन्तु जिस पात्र के द्वारा मिथ्या की अभिव्यक्ति हो रही है, उसके प्रति भी उसकी (कलाकार की) उतनी ही सहानुभूति छलकती रहेगी, जितनी किसी भी अन्य पात्र के प्रति। दूसरे शब्दों में उसका विरोध पतन से है, पतित से नहीं। समाज जिन्हें पतित कहता है (और अनेक अवस्थाओं में जिनके पतन का दोषी वही—समाज ही—है) वे ही नहीं, सारी मानवता हाड़-मांस की बनी, इस तथ्य को महसूस करता है।

एक अत्याचारी जमींदार एक अर्थ-पिशाच पूँजीपति, एक वज्रहृदय पुलिस-वाला, वैणिकों को लुब्धक की तरह जाल में फँसाने वाली एक वेश्या के प्रति भी उसकी इस कारण सहानुभूति रहती है कि वे स्वयं अपना और मानव-समाज का भला-बुरा सोचने में असमर्थ हैं, उनकी चेतना मूढ़ हो गयी है, अतः उनकी प्रवृत्ति ऐसी हो रही है। इसके लिए वे क्रोध के नहीं, दया के पात्र हैं। ऐसी दया करके वह उनके पुनरुत्थान में विश्वास रखता है। उसे निश्चय है कि उनके भीतर जो मानवता मूर्च्छित पड़ी है, वह किसी-न-किसी दिन अवश्य जाग उठेगी। कवि के शब्दों में—

आज मेरा भुक्तोज्झित हो गया है स्वर्ग भी,
लेके दिखा दूंगा कल मैं ही अपवर्ग भी।[1]

फिर पतित के प्रति कलाकार सहानुभूति क्यों न रक्खे और उस सहानुभूति का वितरण क्यों न करे?

कभी-कभी वह (कलाकार) अशिव का चित्र एक समस्या के रूप में उपस्थित करके छोड़ देता है, कि हम आँख मूँदकर उसके अनुयायी न बन जायँ; बल्कि हमारा अन्तस सक्रिय हो उठे और हम स्वतः सत्य-असत्य का निर्णय कर ले सकें।

कितने ही कहानीकारों ने—

२ मानवता के प्रति अनास्था

अंकित की है, बड़ी कटु। विधान (टेकनीक) की दृष्टि से इन कहानियों में कोई कसर नहीं पायी जाती; किन्तु यदि कोई गान ताल में ठीक हो, अर्थात् कहीं से बेताला न हो, परन्तु उसके स्वर बेसुरे हों, तो वह संगीत न माना जायगा। उक्त

१. 'नहुष' श्री मैथलीशरण गुप्त।

प्रकार की कहानियों के बारे में भी यही बात लागू होती है। मानवता में अनास्था योग्य अंश भी है; किन्तु वह मानवता के अपवाद रूप में ही है, नियम के रूप में नहीं; वह मानव-प्रकृति की एक विलक्षणता मात्र है। इस विलक्षणता का चित्रण यदि मनुष्य-स्वभाव के अच्छे पहलू के द्वन्द्व में किया जाय, तब तो हमारे हृदय में, वह अवश्य इस विलक्षणता के प्रति विद्रोह उत्पन्न करता है, और इस प्रकार हमारे उत्थान का कारण बन सकता है; किन्तु यदि वह चित्रण एकांगी है, केवल उस विलक्षणता का ही है, तो उसे हम व्यंजना के रूप में नहीं ग्रहण कर पाते, प्रत्युत [illegible]पूर्वक [illegible] करते हैं। एवं उलटे अपनी जाति (मनुष्यता) के प्रति सशंक बन जाते हैं, अर्थात् अनास्था का वह चित्र अनास्था का कोई सुधार न कर के उसकी परम्परा को और भी दृढ़ करता जाता है।

यही हाल कहानियों में मानव-दुर्बलता के चित्रण एवं समाज के—

नग्न चित्रण

का भी है। ऐसा करके लेखक वस्तुतः यथार्थ चित्रण नहीं करता, गन्दगी को और फैलाता है। इस प्रसंग में एक बात याद आती है—किसी अँगरेजी कहानी-लेखक की—संभवतः एच० जी० वेल्स की—एक कहानी है, जिसमें एक सनकी किसी प्रसिद्ध डाक्टर की प्रयोगशाला में जाता है और उसे बातों में उलझाकर किसी भीषण रोग के कीटाणुओं से भरी एक ट्यब लेकर भागता है कि उसे जलकल की मुख्य टंकी में डाल के सारे नगर का नाश कर दे। यही हाल ऐसी कहानियों का भी है। इनसे हम उन दुर्बलताओं का प्रचार ही करते हैं, नग्नता बढ़ाते ही हैं, इसके विपरीत नहीं। जहाँ कितने रोग ऐसे हैं, जो उभार देने से अच्छे होते है, वहाँ कितने रोग ऐसे भी हैं, जो उपेक्षा करने से ही अच्छे हो जाते हैं—यही उनकी चिकित्सा है। समाज के रोगों के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात है। नग्न चित्रण हमारे परिज्ञान को पीछे बढ़ाते हैं, वासनाओं को पहले।

आख्यायिका की शक्ति

कहानीकार अपनी भावना एवं उसकी अभिव्यक्ति के लिए अपेक्षित कल्पना का शब्द-चित्र प्रस्तुत करके हमारे संवेदन को इतना तीव्र कर देता है कि वह शब्द-चित्र सजीव रूप धारण करके हमारे सामने अभिनय करने लगता है और हमें उन दृश्यों एवं घटनाओं की अनुभूति होने लगती है। इस अनुभूति किंवा प्रतिक्रिया में ही हमें 'रस' मिलता है, जो सारे पार्थिव अर्थात् इन्द्रियजन्य आस्वादों से पृथक्

अतएव लोकोत्तर होता है; गीता के शब्दों में—सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्य-मतीन्द्रियम्। इस स्वाद का स्थायी प्रभाव हम पर बना रहता है और हमारे आन्तरिक विकास का कारण होता है।

कुछ परिवर्तन के साथ आचार्य शुक्लजी के शब्दों में—"वर्त्तमान जगत् में उपन्यास, आख्यायिकाओं की बड़ी शक्ति है। समाज जो रूप पकड़ रहा है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं, उपन्यास, आख्यायिकाएँ उनका प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करतीं, आवश्यकतानुसार उनके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकती हैं।" इतना ही नहीं, इनमें भी गहरी, गम्भीर और चिरकालीन परिस्थितियों को, जो हमें नाश की ओर लिए जा रही है, ठीक-ठिकाने लाना भी उन्हीं का काम है; किन्तु ऐसा न तो अनास्था से किया जा सकता है, न नंगापन-फूहडपन से। इसके लिए तो वही सहानुभूति अपेक्षित है, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है।

सत्यं, शिवं, सुन्दरम्

कहानीकार भी दूसरे कलाकारों की भाँति, अपनी कृतियों द्वारा हमें ऐसा प्रभावित कैसे कर पाता है, अभी इसकी कुछ चर्चा की जा चुकी है। अब तनिक और ब्योरे में पैठा जाता है—कलाकार की अभिव्यक्तियों का रूप रमणीय, अतः पुर-असर होता है। यह रमणीयता उस दर्द का, उस सहृदयता का प्रतिविम्ब है, जिसे कलाकार ने पाया है—उसका हृदय सहानुभूति से ओत-प्रोत है। इस प्रकार, कलाकर को ईश्वर ने, प्रकृति ने, नियति ने—जो जी चाहे कह लीजिए तीन देनें दी है—अनुभूति, सहानुभूति और अभिव्यक्ति, जिनके संयोग से उसकी कृति सत्यं, शिवं, सुन्दरम् बनती है। उसकी अनुभूति से सत्यं, सहानुभूति से शिवं और अभिव्यक्ति से सुन्दरम्।

शिवं अर्थात् सहानुभूति का विमर्श ऊपर किया जा चुका है। यहाँ उसके सत्यं और सुन्दरम् का विवेचन कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

कलाकार का सत्य दार्शनिक के सत्य से भिन्न है। ज्ञानी सत्य को देख भर सकता है; किन्तु भक्ति-भावना के अभाववश उससे तादात्म्य नहीं कर पाता, अतएव उसका सत्य अधूरा रहता है। पहाड़ तले से उसका शिखर देख भले ही लिया जाय, उस तक 'गम' नहीं हो सकती। इस 'गम' के लिए 'लौ' होनी चाहिए, लगन होनी चाहिए, जो भावुक को ही प्राप्त है।

पहाड़ तले से देखनेवाले को शिखर ऊँचा भर जँचता है; किन्तु जो वहाँ पहुँच जाता है, उसके लिए उस ऊँचाई का अभाव हो जाता है और उसके स्थान पर रमणीयता की उपलब्धि होती है, अर्थात् दर्शन में उस शिखर का जो स्वरूप था, उपलब्धि में उससे बिलकुल भिन्न हो गया। इसी से तत्त्वदर्शी के भगवान् निर्गुण-निराकार हैं, किन्तु भक्त के, कोटि, कन्दर्प-विमोहक असीम सुन्दर। यही है सत्य की पूर्णता, जिसमें सत्यं और सुन्दरम् का अभेद है। इसका भागी कोरा दार्शनिक नहीं हो सकता; इसका भागी तो कलाकार है, जो अपना व्यक्तित्व अपनी भावना में विलीन कर देता है।....

एक बार "गाल्सवर्दी ने, आक्सफर्ड में अपना वक्तव्य देते हुए बताया था कि किस प्रकार उनकी कथा आगे बढ़ती है। वे एक आरामकुर्सी पर कागज लेकर बैठते हैं। मुँह में 'पाइप' होता है। बस, उनकी कल्पना जाग्रत हो उठती है। उनका व्यक्तित्व पात्र में खो जाता है। वह सोचते हैं, अब सॉम्स उठना होगा...।

यही सुन्दरम् की अभिव्यक्ति कला है। सत्य से अभिन्न होने के कारण वह सुन्दरं विश्वतोमुख है। वह सुरूप और शोभन तो है ही, विरूप और अशोभन भी है। फलतः कला में जिस प्रकार शृंगार, वीर, करुण और शान्त रस है, उसी प्रकार हास्य, अद्भुत, रौद्र, भयानक और वीभत्स भी।

कहानियों के विषय

कहानियाँ सभी रसों की होती है। उनके विषय मुख्यतः धार्मिक, सामाजिक, प्रागैतिहासिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, आर्थिक, यौन और प्राकृतिक (पशु-पक्षी, वृक्ष, पर्वत इत्यादि का स्वभाव-अंकन एवं जीवनचर्या आदि) होते हैं। कुछ कहानियाँ केवल रस-विशेष की अभिव्यक्ति के लिए, अर्थात् रमणीय कल्पना की अभिव्यक्ति के लिए लिखी जाती हैं। ऐसी कहानियाँ गद्यकाव्य के निकट की चीज होती हैं।

प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक कहानियाँ

प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक कहानियों के सम्बन्ध में कुछ अधिक कहना अनुचित न होगा, क्योंकि उनका एक अपना क्षेत्र है।

प्रागैतिहासिक कहानी में मनुष्यता और उसकी संस्थाओं के विकास का चित्रण रहता है। ये तथा ऐतिहासिक कहानियाँ हमें वर्तमान देश-काल के वातावरण से उठाकर एकदम उस समय के देश-काल में रख देती है। बालकों के लिए

जैसे परी-देश की कहानियाँ हैं, वैसे ही हमारे लिए ऐसी कहानियाँ। उनमें चरित्र-चित्रण और भावों का उत्थान-पतन आदि तो रहता ही है, ऊपर से यह देश-काल वाला अन्तर एक और ही स्वाद उत्पन्न कर देता है।

किन्तु ऐतिहासिक कहानी में यदि उपयुक्त वातावरण उपस्थित करने में कलाकार कोई कचाई कर जाता है, तो वह काँटे-सी कसकने लगती है एवं, कहानी का वह पक्ष सर्वथा फीका, फलतः निष्फल हो जाता है। ऐसी अवस्था में यदि वह अज्ञात देश-काल की कहानी होती, तो हमें कहीं अधिक रस प्रदान कर सकती। उदाहरण में प्रसादजी की प्रसिद्ध कहानी 'नूरी' उपस्थित की जा सकती है, जिसमें अकबर जैसे आदर्श सम्राट् को एक विलासी का रूप मिल जाने के कारण कहानी की पचास प्रतिशत उत्कृष्टता नष्ट हो गयी है। यदि यह कहानी पूरब के 'किसी' वैभवशाली और विलासी बादशाह के दरबार की होती, तो इसका रचना-कौशल कितना निखर उठा होता।

यों तो ऐतिहासिक कहानियाँ सभी रसों की हो सकती हैं; किन्तु वीर-रस के लिए वे एक बहुत अच्छी वाहक हैं। खेद है कि हमारे साहित्य में ऐसी वीर-रस की कहानियों का अभाव है। संभवतः अपनी वर्त्तमान जटिल समस्याओं के कारण हम में विगत की वीरता की ओर देखने का अवकाश ही नहीं रह गया है।

हास्य रस की कहानी

इस ठिकाने हास्य-रस की कहानियों के विषय में भी कुछ कहना आवश्यक है, क्योंकि उनकी एक अलग दुनिया है। ये कहानियाँ मुख्यतः दो भागों में बाँटी जा सकती हैं। एक तो वे, जिनका काम खिल्ली उड़ाना मात्र है। ऐसी कहानियाँ दूसरों को विद्रूप करके, चाहे वे इसके पात्र हों, वा न हों, पाठकों को हँसाती हैं। हम अपने नित्य के जीवन में कितने ही बाजारू लोगों को देखते हैं, जिन्हें किसी को बेवकूफ बनाकर हँसने में ही तुष्टि मिलती है और इसी में वे अपनी वाहवाही समझते हैं। उक्त कहानियाँ भी इसी मनोवृत्ति की प्रतीक हैं। फूहड़ बातें तक कह जाने में ऐसे कहानीकार नहीं हिचकिचाते।

किन्तु एक दूसरा हास्य भी है, जो वस्तुतः हास्य के नाम पर रुदन है। हृदय की जो पीड़ा कलाकार आँसुओं से भी नहीं निकाल पाता, उससे वह हास्य-कथाएँ प्रस्तुत करता है। देखने में तो वह बे-सिर-पैर की बातें करता है; किन्तु उनके अन्तस्तल में उस कृति की, मानवता की कोर-कसर वा अधःपतन के प्रति करुणा

ओतप्रोत रहती है। वह अनाप-शनाप बातों द्वारा समाज की किसी अवांछनीय स्थिति पर कटाक्ष करता है, अथवा अतिरंजित चित्र द्वारा समाज के सड़े-गले वा खोखले अंग का दोष दिखाता है, साथ ही हमें उसके दूरीकरण के लिए प्रेरणा देता है।

जासूसी कहानियाँ

जासूसी कहानियों का भी एक अलग वर्ग है। उसमें सनसनी एवं चक्करदार घटनाएँ, जासूस का बुद्धिबल और साहस एवं अपराधी की प्रतिद्वन्द्विता दूसरी घटनाओं एवं भावों को आरोपित कर लेती है। उसके मुख्य रस वीर और अद्भुत कहे जा सकते हैं; किन्तु जासूसी पृष्ठिका के कारण उनके स्वाद बिलकुल बदल जाते हैं।

कहानियों का विन्यास-प्रकार

कहानियों के विन्यास के कुछ मुख्य प्रकारों का इंगित ऊपर स्थान-स्थान पर हो चुका है। उनके सिवा कुछ अन्य मुख्य प्रकार ये हो सकते हैं—(१) किसी पात्र के मुँह से, (२) पत्रों द्वारा, (३) इजहारों द्वारा, (४) अखबारी समाचारों द्वारा, (५) स्वप्न द्वारा, (६) संस्मरण वा डायरी द्वारा तथा (७) अन्योक्ति द्वारा अर्थात् लाक्षणिक (उदाहरणार्थ, किसी कहानी का नायक सड़क का रोड़ा है; किन्तु वस्तुतः वह रोड़ा दलित मानवता का प्रतीक है)।

हिन्दी कहानियों का यदि विषयवार विभाजन किया जाय, तो प्रेम-कहानियों के बाद दुःख-दर्द [illegible] आयेगी। दलित भारत के कलाकारों की ऐसी प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है। इनके बाद ऐतिहासिक और तब सेक्स-समस्या वाली कहानियों का स्थान है, उपरान्त हास्य रस की कहानियों का। जासूसी कहानियों की ओर गहमरीजी के बाद प्रायः किसी का झुकाव कहीं हुआ। जीवट और वीरता की कहानियों का अपने यहाँ भारी अभाव है।

हिन्दी का कहानी साहित्य

नींव

कथा-साहित्य में अधिकांश पाठकों को आश्चर्य और कौतूहल ही सबसे अधिक आकृष्ट करता है। यही कारण है कि हमारे कथा-साहित्य के आरम्भ-काल में देवकीनन्दन खत्री की चन्द्रकान्ता और सन्तति ने इतनी लोकप्रियता प्राप्त की कि आज तक इनकी माँग चली जाती है। यद्यपि उसी समय के आसपास स्वर्गीय

किशोरीलालजी गोस्वामी ने वासना-मूलक अनेक-अनेक उपन्यास लिखे, किन्तु लोकरुचि ने बहुत ही शीघ्र परित्याग कर दिया। श्री गोपालराम गहमरी ने उन्हीं दिनों 'जासूस' का प्रकाशन प्रारंभ किया था। इस मासिक-पत्र में बँगला से अनूदित छोटी-छोटी जासूसी कहानियाँ रहती थीं। यद्यपि गहमरी जी का जासूसी कहानियों की ओर झुकाव उनके जीवन की एक घटना के कारण हुआ था, फिर भी बँगला में उस प्रकार का पर्याप्त साहित्य विद्यमान होने के कारण उन्होंने अपने उस झुकाव को मूर्त रूप मुख्यतः उक्त अनुवादों द्वारा ही दिया। आगे चलकर उन्होंने कुछ मौलिक जासूसी गल्प भी लिखे।

इस प्रकार छोटी कहानियाँ, गल्प वा आख्यायिकाएँ, पहले-पहल मुख्यतः जासूस के द्वारा ही बँगला से हिन्दी में आयीं। सौदामिनी नाम की एक छोटी सामाजिक कहानी इसके कुछ पूर्व श्री राधाचरण गोस्वामी बँगला से अनूदित करके प्रकाशित करा चुके थे। छोटी कहानी के लिए उन्होंने नवन्यास शब्द प्रयोग किया था; किन्तु वह चला नहीं। 'हीरे का मोल' नाम की एक आख्यायिका भी उन्हीं दिनों, १९०० ई० के लगभग निकली थी। यह भी बँगला के नगेन्द्रनाथ गुप्त लिखित एक गल्प का अनुवाद था।

किन्तु इन प्रयासों से हमारे साहित्य में कहानी की कोई धारा न चल पायी। यद्यपि गहमरीजी निरन्तर जासूसी कहानियाँ निकालते रहे, जिनमें अनुवाद ही नहीं, कभी-कभी मौलिक आख्यायिकाएँ भी होतीं, तो भी उन कहानियों की कोई पद्धति न चली। लोक ने उनके पढ़ने में रुचि तो दिखलायी किन्तु उनके अनुकरण पर कोई साहित्य न तैयार किया।

ऊपर के विश्लेषण से हम पायेंगे कि हमारे कथा-साहित्य की आरम्भिक अवस्था के मुख्य तीन अग्रणी, देवकीनन्दन, किशोरीलाल और गोपालराम ने जो कुछ लिखा, यद्यपि वह थोड़े वा बहुत दिनों के लिए लोकप्रिय हुए, किन्तु उससे साहित्य का कोई मार्ग न बन पाया। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वह वस्तु वह खाद्य न था, जिसकी लोकरुचि को सच्ची भूख थी, भले ही स्वयं उसे उस भूख का ज्ञान न रहा हो।

प्रथम उत्थान

१९०० ई० में नागरी-प्रचारिणी-सभा के अनुमोदन से इंडियन प्रेस के उत्साही संचालक स्वर्गीय चिन्तामणि घोष ने 'सरस्वती' का प्रकाशन आरम्भ किया।

हम कुछ दावे के साथ कह सकते हैं कि जनता जिस प्रकार के मानसिक भोजन की भूखी हो रही थी, उसकी सामग्री 'सरस्वती' ने अपने जन्म से ही प्रस्तुत करनी आरम्भ कर दी। अपनी आरम्भिक अवस्था में जिस प्रकार हमारे साहित्य ने बँगला से बहुत कुछ लिया, उसी प्रकार 'सरस्वती' का आदर्श भी उसने बँगला से लिया। उन दिनों संपादकाचार्य रामानन्द बाबू प्रयाग में ही रहते थे और उनका 'प्रवासी' इंडियन प्रेस से ही निकलता था। यही मुख्यत: सरस्वती के प्रकाशन में प्रेरक हुआ। इस मासिक-पत्रिका ने हिन्दी के एक नये युग का श्रीगणेश किया। अस्तु, लोक-रुचि जहाँ सभी प्रकार का नया साहित्य चाहती थी, वहाँ नये ढंग की कहानियाँ भी चाहती थी।

'सरस्वती' द्वारा इसका भी आयोजन हुआ। पहले ही वर्ष से उसमें छोटी कहानियाँ निकलने लगी। इनमें अधिकांश बंग भाषा का अनुवाद या उन पर अव-लम्बित होतीं। इस प्रकार बँगला से लेने वाले लेखकों में प्रमुख स्थान इंडियन प्रेस के मैनेजर श्री गिरिजाकुमार घोष का—जो कहानियों में अपना नाम लाला पार्वतीनन्दन रखते—मिरजापुर के श्री प्रमथनाथ भट्टाचार्य का—जो भट्टाचार्य के नाम से लिखते—और सर्वोपरि बंगमहिला का है। श्रीमती बंगमहिला भी मिर्जापुर-निवासी एक संभ्रान्त बंग कुल की थीं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'दृष्टिदान' जैसी उच्च कोटि की कहानी १९०३ ई० में 'सरस्वती' द्वारा हिन्दी पाठकों को मिल चुकी थी। कुछ अंगरेजी कहानियों के अनुवाद या सारांश भी निकलते रहे।

इन अनुवादों के साथ सरस्वती के द्वारा मौलिक कहानियों की जमीन तैयार होने लगी। उनके प्रथम वर्ष (१९०० ई०) में ही किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' नामक कहानी निकली। आचार्य शुक्लजी के शब्दों में "यदि 'इन्दुमती' किसी बँगला कहानी की छाया नहीं है, तो वह अवश्य एक नयी दिशा में प्रयत्न है।" इसके बाद कई और मौलिक कहानियाँ 'सरस्वती' में निकलीं; किन्तु उनमें नवीनता न थी। १९०३ ई० मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' नामक कहानी निकली। इसमें यद्यपि कथानक (प्लाट) और भाव है; किन्तु अभिव्यक्ति बिलकुल पुरानी कहानियों के ढंग की और भाषा भारी भरकम, उपाध्याय बदरीनारायण की शैली की है। इसी सन् की एक दूसरी कहानी 'पंडित और पंडितानी' (ले० श्री गिरिजादत्त बाजपेयी) आधुनिकता की दृष्टि से अधिक सफल हुई। इसमें यथा-तथा शैली के कण पर्याप्त मात्रा में चमक रहे हैं; किन्तु

इन कहानी पर अँगरेजी की छाया का सन्देह होता है।

हिन्दी की वास्तविक पहली कहानी बंगमहिला की 'दुलाई वाली' है, जो १९०७ ई० में प्रकाशित हुई। यह यथातथ्य शैली का एक छोटा-सा सुन्दर चित्र है, जिसके कथोपकथन प्रसंगानुकूल, स्वाभाविक और मार्मिक हैं। कहानी का उत्थान गति के साथ हुआ है और अन्त एक सुखद अतर्कित परिस्थिति के संग। इन विशेषताओं के कारण यह आधुनिक लेखन कौशल का एक सफल नमूना है। आज भी दो-चार वाक्यों को छोड़ कर इस कहानी का कलेवर बिलकुल अद्यतन बना हुआ है। फिर भी इस कहानी के बाद मौलिक कहानी की प्रगति, बहुत ही मन्थर, नाम-मात्र की रही, यहाँ तक कि 'दुलाई वाली' का लिखा जाना हम एक आकस्मिक घटना कह सकते हैं। श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के अनुसार ('विशाल भारत', फरवरी १९३६ ई०) माधवप्रसाद मिश्र ने १९०३ ई० से "बंगाली कहानी-लेखकों की देखा-देखी कहानियाँ लिखना शुरू कीं।" ये कहानियाँ न तो मुझे कहीं देखने को मिलीं, न उक्त उल्लेख के सिवा इनकी कहीं चर्चा हुई है; अतएव उनके सम्बन्ध में कुछ और नहीं कहा जा सकता।

दूसरा उत्थान

१९०९ में काशी से 'इन्दु' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ हुआ। वस्तुतः यहीं से हिन्दी कहानियों का दूसरा उत्थान समझना चाहिए। प्रसादजी की निर्मायिका प्रतिभा उनके भीतर ओज मार रही थी; उसी को मूर्त रूप देने के लिए उन्होंने अपने भांजे स्व० अम्बिकाप्रसाद गुप्त द्वारा 'इन्दु' निकलवाया। हिन्दी को नये ढंग की कृतियाँ देने के लिए प्रसादजी मार्ग खोज रहे थे। इस उद्देश्य से उन्होंने पहले-पहल उर्वशी नामक चम्पू लिखा, क्योंकि उस समय तक हिन्दी में चम्पू का क्षेत्र प्रायः रिक्त था (अब तक भी उसकी वही दशा है); किन्तु इससे उनका जी न भरा। शायद एक और चम्पू लिख कर उन्होंने उस लाइन में कलम न उठायी। इन्दु में वे और-और प्रयोग (एक्सपेरिमेन्ट) करने लगे। प्रसादजी के निर्माण का विकास-क्रम जानने के लिए मुख्य साधन इन्दु की फाइलें ही हैं।

उन दिनों स्व० केदारनाथ पाठक, जो अपने युग के हिन्दी-साहित्य के जीवित विश्वकोष थे, उदीयमान हिन्दी-लेखकों को प्रोत्साहन देने में एक ही थे। श्री बंग-महिला, प्रसादजी, जायसवालजी एवं आचार्य शुक्लजी तथा और भी कितने ही साहित्यकारों के निर्माण में उनका बहुत कुछ हाथ था। पाठकजी का बँगला-साहित्य

में अच्छा प्रवेश था और वे अपने प्रोत्साहितों को बँगला की ओर प्रवृत्त किया करते थे। उन्होंने प्रसादजी को भी बँगला-साहित्य के प्रति आकृष्ट किया और उसकी अच्छी-अच्छी रचनाओं की सैर करायी। फलतः यद्यपि प्रसादजी ने जो कुछ लिखा, मौलिक ही लिखा, उनकी आरम्भिक रचनाओं के बहिरंग पर बँगला का बहुत-कुछ प्रभाव पाया जाता है।

अस्तु, हम यह कहने जा रहे थे कि हिन्दी-कहानियों की वास्तविक धारा प्रसादजी द्वारा, इन्दु से, प्रवाहित हुई। उसमें उनकी पहली कहानी 'ग्राम' १९११ में प्रकाशित हुई। फिर चार कहानियाँ और निकलीं। इन पाँचों का संग्रह 'छाया' नाम से १९१२ में प्रकाशित हुआ। छाया की कहानियाँ यद्यपि भाव और कथानक में सर्वथा मौलिक हैं, किन्तु उनकी बोझिल भाषा और वस्तु-विन्यास बँगला-प्रभाव से लतपत है, तो भी उनमें बीच-बीच में 'प्रसाद' के निजस्व का अरुणोदय दीख पड़ रहा है।

'इन्दु' के द्वारा कई अन्य कहानी-लेखक भी उत्पन्न हुए—श्री जे० पी० श्रीवास्तव १९११ से ही हास्यरस की कहानी लिखने लगे। उस समय इन कहानियों का अच्छा स्वागत हुआ। इनमें शिष्ट हास्य का प्रायः अभाव है। १९१२ में श्री विश्वम्भरनाथ जिज्जा ने 'परदेशी' नाम की सुन्दर कहानी लिखी, जो आज भी ताजी बनी है। राजा राधिकारमण प्रसादसिंह की 'कानों में कँगना' नामक उत्कृष्ट कहानी १९१३ में प्रकाशित हुई। राजा साहब ने सुन्दर कथानक के साथ-साथ बड़ी ही सुन्दर भाषा का भी प्रयोग किया। खेद है कि इधर उन्होंने अपना भाषा-सम्बन्धी वह मार्ग छोड़कर एक दूसरा मार्ग ग्रहण कर लिया है, जिसमें उनकी वह विशेषता बिलकुल जाती रही है।

उन दिनों प्रयाग से 'गृहलक्ष्मी' नामक स्त्रियों की एक अच्छी मासिक-पत्रिका निकलती थी, जिसमें १९१०-१२ में श्री किशोरीलालजी के सुपुत्र श्री छबीलेलाल गोस्वामी ने कुछ अच्छे सामाजिक चित्र खींचे। लाला पार्वतीनन्दन के कल्पित नाम से श्री गिरिजाकुमार घोष ने भी, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है, उसमें कुछ अच्छी कहानियाँ लिखीं, किन्तु ये कहानियाँ न तो स्थायी साहित्य की चीज हुई न इन्होंने कोई नयी पद्धति चलायी।

'सरस्वती' में १९१३ में श्री [illegible] 'कौशिक' की पहली कहानी रक्षा-बन्धन निकली, जो इस संग्रह में दी गयी है। शर्माजी अब तक तीन सौ से ऊपर

कहानियाँ लिख चुके हैं और उस समय की शैली के एक प्रमुख प्रतिनिधि हैं। १९१४ से श्री ज्वालादत्त शर्मा सरस्वती में कहानियाँ लिखने लगे। वस्तुतः ये कहानी के रूप में स्फुटुपदेश-मात्र है। १९१५ में गुलेरीजी की अमर कहानी 'उसने कहा था' सरस्वती में ही छपी और १९१६ में प्रेमचन्दजी की पहली हिन्दी कहानी 'पंच-परमेश्वर'—यद्यपि वे उर्दू में बहुत पहले से लिख रहे थे और अच्छी ख्याति प्राप्त कर चुके थे। प्रेमचन्द की सब कहानियाँ तीन सौ से ऊपर हैं।

गुलेरीजी ने उक्त कहानी के पहले दो कहानियाँ और लिखी थीं, यह उनकी तीसरी ही कहानी है; किन्तु है यह कहानी नभोमण्डल का एक दिव्य नक्षत्र। अपने प्रकाशन के समय यह समय से आगे की चीज थी। गुलेरीजी कहानियाँ भी लिखना चाहते थे, पर अधिक गम्भीर कामों में लगे रहने और असामयिक देहान्त के कारण उनकी इच्छा मन में ही रह गयी।

श्री चतुरसेन शास्त्री की पहली कहानी १९१४ में गृहलक्ष्मी में प्रकाशित हुई। शास्त्रीजी की कहानियों ने मुख्यतः उनकी भाषा की गढ़न और तड़क-भड़क के कारण सफलता पायी है, अन्यथा उनमें काल और क्रिया के ऐक्य का अभाव अथवा प्रक्रमभंग दोष विद्यमान है। इन पंक्तियों के लेखक ने १९१७ से, श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने १९१८ से और स्व० चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' तथा श्री गोविन्दवल्लभ पंत ने १९१९ से आख्यायिका-क्षेत्र में प्रवेश किया। १९२० में सुदर्शन जी की पहली कहानी छपी है। आप भी उसके पहले से उर्दू कहानी-लेखकों में ख्याति पा चुके थे। 'उग्र' जी का रचना-काल १९२२ से आरम्भ हुआ। श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी १९२४ से लिखने लगे। आप भी अब तक तीन सौ से अधिक कहानियाँ लिख चुके हैं। १९२५ से श्री विनोदशंकर व्यास ने और १९२७ से श्री वाचस्पति पाठक ने कहानी लिखना आरम्भ किया। यही १९२७ इस काल की अपर सीमा है। इसी समय से नये-नये कहानी-लेखक नयी और अद्यतन भावनाएँ लेकर साहित्य-क्षेत्र में आये, अतः यहाँ से हमारी कहानियों के इतिहास का एक तीसरा उत्थान शुरू होता है, जिसकी चर्चा आगे की जायेगी।

उक्त काल का सिंहावलोकन

इस काल में मौलिक कहानी-साहित्य का आरम्भ ही नहीं, यथेष्ट पल्लवन भी हुआ। अनेक ऐसी कहानियाँ लिखी गयीं, जो हमारे स्थायी साहित्य की निधि हैं। कितने ही कहानीकार लिखने लगे, जिनमें से कुछ के नाम ऊपर दिये गये हैं।

इन नामों को प्रतीक मात्र समझना चाहिए।

प्रसादजी की कला

इस उत्थान में मुख्यतः दो शैलियों का प्रवर्तन हुआ—(क) भाव-मूलक तथा (ख) यथार्थ। भावमूलक शैली के स्रष्टा प्रसादजी थे और यथार्थ के प्रधान पुरुष प्रेमचन्दजी।

१९१५ से २० तक प्रसादजी का गम्भीर मनन वा तैयारी का काल कहना चाहिए, जिसके फलस्वरूप उनकी अद्वितीय साहित्यिक शक्ति उद्बुद्ध हुई और आरम्भ से ही वे जिस स्वतन्त्र मार्ग की खोज में थे, वह उन्हें प्राप्त हुआ। बँगला का जो बहिरंग प्रभाव उन पर था, उसे इस बीच उन्होंने झटकार दिया। इसके बाद उन्होंने कहानी, कविता, नाटक, काव्य सभी में हिन्दी को एक नये पथ पर चलाया।

प्रसादजी की आख्यायिकाएँ—जैसा ऊपर कहा जा चुका है—भाव-प्रधान होती हैं, भले ही उनकी पृष्ठिका प्रागैतिहासिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक वा राजनैतिक हो। भावों को कहानी-रूप में ढालने के लिए उनके पास विशद कल्पना थी और उस कल्पना को साहित्यिक रूप देने के लिए प्रचुर अभिव्यंजना एवं विन्यास-शक्ति। अपनी कहानियों में से कुछ में तो उन्होंने घटना-बाहुल्य का प्राधान्य रक्खा है, कुछ में घटना-भाग बिलकुल अवान्तर कर दिया है। उनमें घटना का अभाव-सा है; किन्तु इससे उनके रस में कोई कमी वा अन्तर नहीं पड़ा है, क्योंकि उनकी अभिव्यक्ति बड़ी रमणीय है।

प्रसादजी के कथोपकथन कवित्वमय और हृदय में चुभने वाले होते हैं। उनमें आवश्यकतानुसार सुकुमारता एवं प्रौढ़ता पायी जाती है। मनो-वृत्तियों का सूक्ष्म निरीक्षण तथा विश्लेषण और वस्तु के दार्शनिक तथ्य का स्फुटीकरण उन्होंने बड़ी सुन्दरता से एवं उच्च कोटि का किया है, प्राचीन भारतीय संस्कृति, आदर्श और वातावरण के वे परम भक्त और अभिमानी थे। इसकी छटा उनकी रचनाओं में ओत-प्रोत रहती है। इसी भावना का प्रतीक उनकी भाषा भी है। कुछ लोग प्रसाद-जी की भाषा को गरिष्ठ बताते हैं; किन्तु अभिव्यक्ति के लिए समुचित ग्राहक भी तो चाहिए, जो कुछ उन्हें कहना है, वह उससे हल्की व अन्य शब्दों वाली भाषा में कहा ही नहीं जा सकता। इस भाषा में अमूर्त भावनाओं के आधार पर मूर्त की अभिव्यक्ति की गयी है, इस कारण चाहे उसे छायावादी भाषा कह लीजिए।

प्रसादजी कहानी का आरम्भ जैसे मार्के के स्थल से करते हैं, अन्त भी उससे बढ़ कर मार्के के ठिकाने करते हैं। प्रेमचन्दजी के शब्दों में उनकी कहानियों का अन्त—'अपने ढंग का निराला होता है—बड़ा ही भावपूर्ण ध्वन्यात्मक और सहसा।....... .पाठक का मन झकझोर उठता है, वह एक समस्या को पुनः सुलझाने लगता है.........।'

उन्होंने स्केच वा पर्सनल ऐसे-जैसी कुछ चीजें भी लिखीं। इनमें उन्होंने अपनी व्यथा के साथ-साथ निर्दीनों का दुख-दर्द भी भर दिया है। इनमें के कतिपय स्केचों में उनके जीवन के कई पृष्ठों का आख्यानिक अकन है और उनके परिचितों तथा मित्रों का चरित्र-चित्रण। जो लोग समझते है कि प्रसादजी ने स्थूल जगत् से कुछ नहीं लिया। उन्हें जान लेना चाहिए कि उनके नाटक, उपन्यास एवं कहानियों के कितने ही पात्र एक वा एकाधिक वास्तविक व्यक्ति के चित्रण है।

प्रसादजी की प्रौढ़ कहानियाँ भारत के साहित्य में उच्च तथा स्थायी स्थान रखती हैं और यदि सफल अनुवादक उन्हें विदेशी भाषाओं में ढाल दें, तो वे उन देशों की अच्छी-से-अच्छी कहानी से उन्नीस न बैठें।

उसने कहा था

गुलेरीजी की 'उसने कहा था' का प्रकाशन (१९१५) भी इस उत्थान की एक मुख्य घटना है। इस एक कहानी की अद्वितीयता पर आगे 'ये इक्कीस कहानियाँ' में विस्तृत विचार किया गया है; अतः यहाँ अधिक कहा नहीं जाता।

प्रेमचन्द और यथार्थ शैली—इस द्वितीय उत्थान की तीसरी मुख्य घटना १९१६ में प्रेमचन्द का हिन्दी-क्षेत्र में आना है। उर्दू में वे बहुत पहले से और सफलतापूर्वक लिख रहे थे। वे अपनी उर्दू में प्रकाशित कहानियाँ लेकर आये। इनकी पहली कहानी, 'पंचपरमेश्वर' ने ही अपना प्रभाव जमा लिया। इस प्रभाव में अन्य विशेषताओं के साथ-साथ उनकी भाषा का भी मुख्य हाथ था।

उर्दू से हिन्दी में आने के कारण प्रेमचन्द की भाषा उर्दू का शासन मान कर चली। उसमें तराश और चुलबुलापन है। तराश-लचाव से भाषा का लोच-लचाव तो जाता ही रहता है, उसकी स्वाभाविकता भी नष्ट हो जाती है। उर्दू में हमें बिगड़ी हुई मुस्लिम संस्कृति का कृत्रिम और बाह्य शिष्टाचार—तकल्लुफ और दुनियादारी—भर मिलता है, जिसके फलस्वरूप उसमें बड़ी नीरवता, खोखलापन और अहार्दिकता विद्यमान है, भले ही उसकी माँज-खराद और चुस्ती परले सिरे

की हो। उर्दू की शैली कंठ का स्वर हो सकती है, हृदय का मर्म नहीं।

राष्ट्रीय भावना, दलितों—ग्रामीणों—के प्रति गहरी सहानुभूति, अत्याचारों के विरुद्ध ऊँची आवाज प्रेमचन्द की मुख्य विशेषताएँ हैं। उनकी शैली यथार्थ है और कथोपकथन नाटकीय, फलतः अनेक स्थानों पर वे कृत्रिम और अनावश्यक हो गये हैं। विधान (टेकनीक) पर उनका पूरा अधिकार है; किन्तु कथानक में वे वस्तु-स्थिति की भूलों पर ध्यान नहीं देना चाहते। घटना और व्यक्ति दोनों के सम्बन्ध में यह बात लागू होती है। अनेक बार उनके देहाती पात्र तक, जिनके प्रति उनकी सब से अधिक सहानुभूति है, देहाती नहीं जान पड़ते। नारी-स्वभाव के अंकन में वे बहुधा भटक जाते हैं। साथ ही उनके पात्र प्रायः अपनी गति, नहीं रखते; शतरंज के मुहरों की भाँति उनकी इच्छा पर चलते हैं।

इन अभावों के होते हुए भी वे एक महान् कलाकार हैं और उनकी बीसियों कहानियाँ भारत की ही नहीं, मनुष्य-जाति-मात्र की मूल्यवान सम्पत्ति है।

यथार्थवादी होने के साथ-साथ वे आदर्शवादी भी हैं; किन्तु यह आदर्शवादिता अनेक बार प्रचारक का रूप धारण कर लेती है। अपने सम्बन्ध में उन्होंने एक भूमिका में श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी की सम्मति उद्धृत की है, जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—'ये महाशय कहानी या उपन्यास जो कुछ भी लिखते हैं, वह सोद्देश रूप से। इनकी हरेक कहानी में जनसमाज के लिए कोई-न-कोई उपदेशात्मक सन्देश रहता है। सामाजिक और राजनैतिक कुरीतियों का निवारण आप का लक्ष्य रहता है।'

सुदर्शनजी भी १९२० में हिन्दी में आये। उनकी रचनाओं में प्रायः समग्र रूप से प्रेमचन्द का अनुहार है। यथार्थ-शैली वाले कलाकारों में प्रेमचन्द के बाद सुदर्शनजी ने ही सब से अधिक लोक-ख्याति और प्रियता पायी है।

उग्र—इस उत्थान के कलाकारों में उग्र की फड़कती हुई भाषा और लाक्षणिकता ने उन्हें एक बहुत ऊँचा कहानीकार होने का सुयोग प्रदान किया था। उनकी कुछ कहानियाँ हैं भी बहुत उत्कृष्ट; परन्तु अनेक चित्तता के कारण उनकी शक्तियाँ बिखरती ही जा रही हैं।

सेक्स कहानी—सेक्स समस्या की पहली कहानी 'रजिया की समस्या' इसी उत्थान-काल में लिखी गयी। इसे १९२२ के लगभग स्व० कृष्णकान्त मालवीय ने अभ्युदय में लिखा था। इसकी भाषा उर्दू मिश्रित है, किन्तु अपने वस्तु (थीम्)

को उन्होंने अच्छा निबाहा है। उस समय इस कहानी की काफी चर्चा हुई थी और सहृदय समुदाय इसकी ओर विशेष आकृष्ट हुआ था। यह उनके 'मनोरमा के पत्र' में उद्धृत की गयी है।

तीसरा उत्थान

प्रगतिशील कहानी-साहित्य—प्रसादजी तथा उनके परवर्ती और अनुवर्ती साहित्यकार हिन्दी को बँगला के सहारे से छुटकारा दिला चुके थे। साहित्य के हर विभाग में प्रगति हो चली थी। संसार के अन्य देशों के साहित्य की हमें यथेष्ट जानकारी हो गयी थी और उसका रसास्वादन भी हम करने लगे थे। संसार बड़ी बड़ी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक क्रान्तियों के बीच से गुजर चुका और गुजर रहा था। इसका प्रभाव साहित्य पर न पड़ना असम्भव था। १९२७-२८ से नये कहानीकार नवीन भावनाओं को लेकर हमारे बीच आये।

इस युग को हम प्रगतिशील या आधुनिक कह सकते हैं। अद्यतन उत्थान सम्भवतः सबसे उपयुक्त शब्द होगा। इस उत्थान की कहानियों का वादी स्वर—विद्रोह की भावना है। इस विद्रोह की भावना में कुछ हद तक उस सहानुभूति का अभाव है, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, क्योंकि विद्रोही प्रगतिगामी या गाड़ी-के-काठ के प्रति कटु है, तीव्र है, प्रतिहिंसक है; किन्तु विद्रोह की एक आध्यात्मिक धारा भी है। हमें इस बात का गौरव प्राप्त है कि उसे प्रवाहित करने के लिए हमारे बीच बापू अवतरित हुए हैं। फलतः प्रगतिशील कहानियों में दोनों ही प्रकार की भावनाओं का अंकन हुआ है। किन्हीं में कटु विरोध है, किन्हीं में व्यापक सहानुभूति। इन कहानियों की एक विशेषता मनोवैज्ञानिकता है। कथोपकथन तथा चरित्र-चित्रण में लेखकों ने मानव-वृत्तियों, प्रवृत्तियों एवं उनकी उलझनों को सफलता और मार्मिकतापूर्वक दरसाया है तथा उनका समुचित विश्लेषण भी किया है। रूसी साहित्य का इस उत्थान पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ा, क्योंकि वहाँ के देश-काल और दृष्टिकोण से भारत से साम्य था।

अधिकांश अद्यतन कहानियों के विधान में कथानक और नाटकीय संलाप की कमी एवं वर्णन-विवरण तथा विश्लेषण की अधिकता रहती है जो घरेलू और अकृत्रिम शब्दों में लिखे जाते हैं। ऐसी अभिव्यक्ति में कला तो रहती ही है, विजातीय द्रव्य के अभाव के कारण हमारे मनोजगत् से उसका पूरा सामंजस्य हो जाता है। इनकी भाषा में इनके विधाताओं के हृदय का स्पन्दन है; इसमें उन्होंने 'एक

जान' ही नहीं, अपनी जान डाल दी है। सर्वश्री जैनेन्द्र, अज्ञेय और भगवतीचरण वर्मा इस उत्थान के आदिपुरुष हैं।

"फाँसी" और "खेल" जैनेन्द्रजी की बहुत पहले की कहानियाँ हैं। १९२८ के लगभग लिखी गयी थीं। इन कहानियोंने अपने सभी पाठकों को बहुत प्रभावित किया था। उसी समय स्पष्ट हो गया था कि यह कलाकार हमें नये भाव और उसके साथ-साथ नयी भाषा देने जा रहा है। इस भाषा में केवल कंठ का स्वर नहीं हृदय का मर्म है। उर्दू का शासन उनकी भाषाने नहीं माना। गुजराती के कुछ प्रयोग उन्होंने अपनाये जो बुरे नहीं लगते। दिल्ली की बोल-चाल की हिन्दी का, जो उर्दू नहीं, वास्तविक एवं जीती-जागती हिन्दी है, उन्होंने बड़ी सफलता से उपयोग किया है। हिन्दी के इस रूप के सम्बन्ध में आचार्य शुक्लजी का मत बहुत स्पष्ट और प्रामाणिक है—"यही खड़ी बोली असली और स्वाभाविक भाषा थी; मुंशियों की उर्दू-ए-मुअल्ला नहीं।...यह अपने ठेठ रूप में बराबर पछाँह के घरों में बोली जाती है।" जैनेन्द्रजी ने हमें बहुत अच्छी-अच्छी कहानियाँ दी हैं। यदि वे दर्शन की ओर न झुक गये होते, तो वे इस लाइनको और अधिक प्रदान कर सकते।

अज्ञेयजी की कहानियाँ बड़े मार्के की होती हैं। उनमें एक ऐसी अन्तर्मुक्त वृत्ति का स्फुरण पाया जाता है, जिसकी नींव में विद्रोह है।

भगवतीचरण वर्मा की कहानियों में 'एक प्रकार की उच्छृङ्खलता' हो सकती है; किन्तु उन कहानियों का अन्तस्तल कुछ और ही है। बहुतेरे लोग यह सुन कर अकचकायेंगे कि उनमें मानवता के पतन और उच्छृङ्खलता के लिए जो आह और उसके विरुद्ध जो विद्रोह है एवं आस्तिकता, नैतिकता तथा आदर्शवाद का जो संदेश है तथा इनके विपरीत की जो भर्त्सना है, वही उनकी विशेषता है। नये होते हुए भी वर्माजी वस्तुतः सनातन सत्य के झंडाबरदार हैं।

सर्वश्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, बलराज साहनी, हरदयाल 'मौजी', रामवृक्ष शर्मा 'बेनीपुरी', 'पहाड़ी', उपेन्द्रनाथ 'अश्क', अख्तरहुसेन रायपुरी आदि इस उत्थान के प्रमुख कहानी-लेखक हैं। किन्तु आधुनिक शैली का जैसा परिपाक यशपालजी की लेखनी में हुआ है, वह अभूतपूर्व है। उनकी कहानियाँ उन्नत-से-उन्नत भाषा के साहित्य में प्रमुख स्थान पाने की अधिकारी हैं। उनमें आह, व्यापक सहानुभूति, मानोविश्लेषण, रमणीयता, प्रौढ़ता, क्या नहीं है? यह बात लक्ष्य करने

की है कि इस उत्थान के अधिकांश कलाकार दिल्ली-पंजाब के हैं।

उक्त कलाकारों के सिवा आज कितनेही ऐसे सरस्वती-पुत्र भी हैं जिनकी एकाध कहानी ने ही स्थायी साहित्य में उनका स्थान बना दिया है।

द्वितीय उत्थान के कलाकारों ने भी इस शैली का अनुमोदन किया। उदाहरण के लिए—प्रेमचन्द का 'कफन' और प्रसाद का 'मधुआ' इस अनुमोदन के मूर्तरूप हैं।

हमारे नयी धारा के कवि भी इस उत्थान के कहानीकारों में सम्मिलित हुए। पन्त, निराला और सियारामशरण की कहानियों से हिन्दी-संसार खूब परिचित है। सियारामजी की कहानियाँ उनकी साहित्यिक साधना, चिन्तनशीलता एवं भावों की कोमलता से परिपूर्ण रहती हैं।

इस उत्थान ने हमें उत्कृष्ट कहानी-लेखिकाएँ भी दीं—सर्वश्री सत्यवती मलिक, कमला देवी चौधरी, उषा मित्रा तथा होमवती देवी की कहानियाँ बड़ी ही स्वादु तथा सुकुमार हैं।

इसी भाँति हास्यरस के कई कहानी-लेखक भी इस काल में आगे आये। इनमें सर्वश्री अन्नपूर्णानन्द, कृष्णदेवप्रसाद गौड़, राधाकृष्ण, अमृतलाल नागर तथा रघुकुलतिलक उल्लेखनीय हैं। इनके हास्य में प्रायः शिष्टता का अभाव नहीं रहता और समाज के किसी दूषण पर आक्रमण करना ये खूब जानते हैं।

श्री श्रीराम शर्मा की शिकारी कहानियाँ और संस्मरणों का काल भी इसी उत्थान के भीतर आता है, यद्यपि उनकी भाषा उर्दू-शासित, दूसरे उत्थान काल की है, जिसमें तली भाजी की तरह सोंधापन-भर रह जाता है, निजी स्वाद, रस और जीवन-तत्व जल जाता है। चित्रण की दृष्टि से शर्माजी की कृतियाँ काफी सजीव हैं।

उपसंहार

अपने कहानी-साहित्य के इस घसीट रेखा-चित्र से हम पावेंगे कि उसकी चर्तुदिक प्रगति हो रही है। इस रेखांकन में यदि किसी कलाकार का नाम छूट गया हो, तो वह सर्वथा अनिच्छित, अतः क्षम्य है। द्वितीय उत्थान से आज तक के कहानीकारों की संख्या पाँच सौ तक पहुँच जाय तो आश्चर्य नहीं। इसी प्रकार कहानियों की गिनती भी पाँच-सात हजार तक हो सकती है।

अपने साहित्य के इस अंग की प्रगति बतलाने के लिए ये आँकड़े अलम् हैं।

इनके उपरान्त किसी टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं रह जाती। यदि इनमें से उत्कृष्टतम कलाकारों की संख्या पाँच प्रतिशत भी रक्खी जाय (जो हर तरह संकीर्ण संख्या है), तो हमारे कहानी-लेखकों में कम-से-कम दो दर्जन ऐसे कृती अवश्य हैं, जिनकी [illegible] साहित्य की स्थायी निधि होंगी।

यह प्रगति सर्वथा श्लाघनीय और भारत के किसी भी साहित्य से कम नहीं है। इतना ही नहीं, विश्व के कहानी-साहित्य में हिन्दी-कहानियों ने अपना निश्चित स्थान बना लिया है। फिर भी, हमारे कहानी-साहित्य की अभी आरम्भावस्था ही है। इस आरम्भिक अवस्था में हम जैसे-जैसे कलाकारों को पा चुके है, उनसे कहीं ऊँचे कलाकार अभी आने वाले हैं। हमारा भविष्य हमारे अतीत और वर्तमान से कहीं समुज्ज्वल होगा। अपनी प्रगति की क्षिप्रगति में हम उस भविष्य-उत्कर्ष को भली भाँति देख सकते है।

ये इक्कीस कहानियाँ

देवरथ—ऐसी कहानी प्रसादजी ही लिख सकते थे, जिनके लिए विगत तो वर्तमान था ही, मनोवृत्तियों की गतिविधि भी हस्तामलक थी। इस चित्रण के लिए उन्होंने जो पट चुना है, उसमें अतीत की पृष्ठिका के साथ-साथ वह वातावरण भी है, जिसमें पड़कर हमारा इतना पतन हुआ है। इसे हम नैतिक दुर्बलता, धार्मिक स्वेच्छाचार और आडम्बर कह सकते है। सनातन मानव-प्रवृत्तियों पर ऐसे वातावरण की क्या प्रतिक्रिया हो सकती है, इसका उन्होंने कमाल का अंकन किया है—

बौद्ध धर्म के इजारेदार नितान्त जघन्य और नर-राक्षस हो चुके थे। धर्म की ओट में अधर्म का नग्न नृत्य हो रहा था। तथाकथित धर्म-शासन 'घरों को चूर-चूर करके विहारों की सृष्टि' कर रहा था (यहाँ प्रसादजी ने विहार शब्द का कैसा ध्वनिपूर्ण प्रयोग किया है, इसे लक्ष्य कीजिए)। नारी के शील का कोई मूल्य न रह गया था। संघ वस्तुतः भैरवी चक्र हो उठे थे, जिनमें नारी का घिनौना-से-घिनौना उपयोग होता था।

यदि संयोगवश पुरुष का औदार्य नारी को उस पंक से उबारना चाहता है, तो एक ओर उस (नारी) की शील-भावना अपने को ही अयोग्य पाती है—'मैं वह अमूल्य उपहार—जो स्त्रियाँ, कुलवधुएँ अपने पति के चरणों में समर्पण करती है—कहाँ से लाऊँगी ? वह वरमाला जिसमें दूर्वा-सदृश कौमार्य हरा-भरा रहता हो, जिसमें मधूक-कुसुम-सा रस भरा हो[1], कैसे, कहाँ से तुम्हें पहना सकूँगी ?' दूसरी ओर वह इस कारण भी अप्रस्तुत है कि उसकी कदर्थना स्वयं उसके लिए घिनौनी है। उसमें इतनी नैतिक निर्बलता आ गयी है कि 'अपनी सारी लांछना पुरुष के साथ बाँट कर उसकी जीवन-संगिनी बनने का दुस्साहस' वह नहीं कर

१—ऐसी अनूठी उपमा प्रसादजी ही दे सकते थे, जिन्हें ज्ञात था कि वरमाला दूब और महुवे के फल से गूँथी जाती थी और जो इस गुम्फन के तत्व तक पहुँच सकते थे।

सकती ।

इस समस्या का एक स्वस्थ पहलू भी है—पुरुष नारी की लांछना को बाँट कर भी 'पारिवारिक पवित्र बन्धन को' टूटने न दे, तो एक लांछित दल का सदस्य बना रहने में कहीं अच्छा; किन्तु नारी यह पुकार ऐसे समय उठाती है, जब सुनने वाला उसे सुन नहीं पाता । अब उसका प्रायश्चित् वैसा अस्तित्व मिटा देने में ही है ।...

कहानी की नायिका सुजाता अपने को देवता के रथ के नीचे, जो गहरी लीक भर बना सकता है, डाल देती है; किन्तु प्रायश्चित्त केवल उसका ही नहीं, उस सड़े-गले संघ का भी हो जाता है, क्योंकि 'मनुष्यता का नाश करके कोई धर्म खड़ा नही रह सकता ।' इधर सुजाता का शरीर देवरथ के भीषण चक्र से पिस उठता है, उधर हिन्दू से मुसलमान बना 'काला पहाड़' इस सड़ाव की सफाई के लिए आ टूटता है ।

२. **उसने कहा था**—गुलेरीजी की यह अमर कहानी हमारी यथार्थवादी कहानियों में आज भी उसी प्रकार अद्वितीय है, जैसी १९१५ ई० में अपने प्रकाशन के समय थी, यद्यपि इस बीच हमारा कहानी-वाङमय यथेष्ट समृद्ध हो चुका है । इसका स्थान संसार की श्रेष्ठ कहानियों में है। भाषा, विधान, कथानक और अभि-व्यक्ति कहानी के इन चारों ही मुख्य अंगों में यह कहानी पूर्णतः सम्पन्न है ।

गुलेरीजी ने भाषा को एक ऐसे अनूठे साँचे में ढाला था, जिसका जोड़ आज तक तैयार न हो सका । कहानी का पहला लम्बा पैरा तो इसका अच्छा नमूना है ही, सारी कहानी की भाषा में यह उत्कृष्टता एकरस व्याप्त है ।

इसके बाद विधान का नम्बर है—कहानी का पहला लम्बा पैरा अमृतसर का बाजार हमारे सामने खड़ा कर देता है, जिसमें एक बालक-बालिका महीने भर तक निरन्तर मिला करते है । इनके बाल-सुलभ आलाप और चेष्टित का कुछ इंगित करके कलाकार हमें एकदम से (दूसरे परिच्छेद से) विगत महायुद्ध के रणक्षेत्र में पहुँचा देता है, जिसका संबंध हम कहानी के आरम्भिक अंश से नहीं जोड़ पाते, फलतः एक अधर में पड़ जाते हैं; फिर भी चित्रण इतना सजीव है कि पढ़ने में नहीं रुकते । अन्त में मरते हुए जमादार लहनासिंह की पूर्व स्मृति के रूप में पुनः कहानी अपने आरम्भिक अंश से जा मिलती है और वहीं उसकी वे कड़ियाँ भी प्रकट होती हैं, जिनमें रस का सारा परिपाक है। विधान की ऐसी उमेठदार

बन्दिश से कहानी का सौन्दर्य दूना हो उठा है।

अब कथानक को लीजिए—यद्यपि गुलेरीजी ने मनोवृत्ति और उसकी प्रेरक शक्ति का ही अंकन किया है; किन्तु उस अंकन का वातावरण बिलकुल यथार्थ है, अर्थात उनका कथानक, दूसरे शब्दों में बाह्य जगत की कल्पना भावमूलक न होकर घटनामूलक है और यदि हम केवल इस दृष्टि से कहानी को देखें, अर्थात, इस आख्यायिका से यदि केवल कथा-भाग अलग कर लें, तो वह इतना मनोरंजक है कि उसके लिए किसी अन्य अंग की आवश्यकता नहीं रह जाती।

अभिव्यक्ति इस कहानीकी सबसे बड़ी विशेषता है। कलाकार अपनी ओर से कोई बात नहीं कहता, जैसा कि अधिकांश कहानीकारों की रीति है और जिसके कारण कहानी का निन्यानवे प्रतिशत रस और ओज नष्ट हो जाता है। घटना और कथोपकथन के द्वारा ही इस कहानी की सारी भावाभिव्यक्ति हो जाती है। उक्त बालक और बालिका अमृतसर के भीड़ वाले चौक में मिला करते हैं। उनकी वह अवस्था है, जिसमें सेक्स तिरोहित रहता है, फिर भी वे एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट होते हैं। ऐसा बालकालीन आकर्षण बालक-बालिका-स्वभाव की मौलिक विभिन्नता के कारण होता है। शारीरिक विभिन्नताओं की भाँति, मानसिक विभिन्नता का सृजन भी प्रकृति हमारे सृजन के साथ-साथ करती है कि उसके आकर्षण द्वारा समय आने पर यौन-उद्देश्य की पूर्ति हो सके।

बालक का बालिका पर ममत्व हो जाता है; अपनी जान पर खेलकर उसकी रक्षा करता है और जिस दिन सुनता है कि उसकी सगाई हो गयी, आहत हो उठता है, अपना कुछ खो बैठता है, जिसकी कसर निकालने के लिए रास्ते भर उलझता, भिड़ता, टकराता हुआ घर लौटता है।

मध्यावस्था में इस युगल का पुनः सामना होता है। यद्यपि यह वह समय है जब दोनों की सेक्स-भावना अपना-अपना निश्चित मार्ग तय कर रही है, किन्तु एक बार पुनः वही निर्लिप्त ममता जाग्रत होती है जिसकी परिणति, अमृतसर वाली बालिका के लिए अपने प्राणों पर खेल जाने वाला बालक, आज का जमादार लहनासिंह अपने वीरोचित बलिदान द्वारा करता है।

इस प्रकार कहानी का चतुरंग सरोतर उतरा है और चारों के संयोग से यह एक अद्वितीय रचना हो उठी है।

३. रक्षाबन्धन—प्रसादजी के उत्थान से पूर्व हिन्दी-कहानी किस प्रकार

पनप रही थी, इसका यह एक सुन्दर उदाहरण है। इसमें स्वजन-प्रेम का एक करुण चित्र उपस्थित किया गया है, जो अन्त में एक अतर्कित किन्तु आह्लादक परिस्थिति में पूरा होकर हमें चमत्कृत करता है। स्थान-स्थान पर भाव भी विद्यमान हैं।

समाज के भिन्न-भिन्न स्तरों की मनोवृत्ति के अनुरूप कथोपकथन प्रस्तुत करके पात्रों का रूप स्फुट करने की, कौशिकजी में स्तुत्य क्षमता है। इस सम्बन्ध में सम्भवतः वे हमारे कहानीकारों में अद्वितीय हैं। इस कहानी का परदा उठते ही हम इसका नमूना पाते हैं—माँ, बेटी के संवाद में। फिर आगे भी।

४. **नशा**—इसमें जमींदारी के नशे का, निकम्मेपन का चित्र तो है, पर इसके ऊपर भी एक बात है। धर्मशास्त्र में जहाँ पाँच महापातकी गिनाये गये हैं वहाँ चार तो वस्तुतः पाप करने वाले हैं, पाँचवाँ उनका संसर्गी—'तत्संसर्गी च पंचमः।' जमींदारों की संगति भी ऐसी ही होती है। इसी नशे का यह एक अच्छा खण्ड चित्र है।

प्रेमचन्दजी हाथ धोकर जमींदारों के पीछे पड़े रहते थे। जमींदार हैं भी इसके पात्र, किन्तु इस एकांगिता के कारण प्रेमचन्द की कला बहुत कुछ अवरुद्ध रह गयी।

५. **रमणी का रहस्य**—नारी-स्वभाव का विश्लेषण और उसके जीवन का लक्ष्य इंगित करने के उद्देश्य से यह कहानी लिखी गयी है। इसका मुख्य वाक्य सम्भवतः यह हो सकता है—'नारी का प्रकृत रूप उसकी मुस्कान में नहीं, आँसुओं में प्रत्यक्ष होता है।'

इस कहानी का वातावरण प्राचीन कथाओं का रखा गया है; किन्तु जो विचित्र देश रमणी की जन्मभूमि है वह काल्पनिकता की ओट में, उत्तरी ध्रुव है।

६. **हार कीजीत**—यह सुदर्शनजी की बहुत पहले की कहानियों में से है; किन्तु आज भी उनकी सब से बढ़िया रचनाओं में है। प्रेम मनुष्य-जीवन का मुख्य संबल है। यह आवश्यक नहीं कि वह मनुष्य पर ही हो। उसकी सीमा में पशु-पक्षी भी आ जाते हैं। इस कहानी में एक त्यागी-विरागी की लगन एक घोड़े से लगी है, जिसके बिना वह रह नहीं सकता; किन्तु कहानी इससे भी ऊँची तब उठती है, जब छल से यह घोड़ा छीन लिया जाता है, तब वे यही चाहते हैं कि घटना गुप्त रहे, क्योंकि 'लोगों को यदि इस घटना का पता लग गया, तो वे किसी ग़रीब पर

विश्वास न करेंगे।'

यह एक वाक्य सारी कहानी का बोझ उठाये हुए है; किन्तु उस बोझ को कलाकार ने ऐसे हिसाब से रखा है कि न तो वह बेडौल मालूम होता है, न वाक्य-रचना उसके लिए भीमकाय। जिस प्रकार कृष्ण की कानी उँगली पर गोवर्द्धन का विपुल शरीर शोभा देता था, उसी प्रकार इस वाक्य पर सारी कहानी सुशोभित है।

बाबाजी के स्नेह से यदि उनके मानव-हृदय का पता लगता है, तो मानवता के तकाजे पर निस्स्नेह हो जाने से उसका पता और भी अधिक लगता है। उनकी महाशयता से एक दुराशय का परिवर्तन होना अनिवार्य था।

७. गंगा, गंगदत्त और गांगी—पौराणिक कहानी लिखने का उद्देश्य न रखते हुए भी उग्रजी ने इस कहानी का वातावरण पौराणिक रखना ही ठीक समझा, यह उनकी सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। जो कुछ वे कहना चाहते है, उसके लिए इससे उपयुक्त वातावरण हो नहीं सकता।

प्रसंगवश यह कह देना अनुचित न होगा कि उग्रजी ने इस कहानी में यथा-स्थान पौराणिक संस्कृति की जो भी झलक दिखलायी है, वह खटकने वाली नहीं, यद्यपि वे हस्तिनापुर को इन्द्रप्रस्थ लिख गये है, जिसे शान्तनु के चार पीढ़ी बाद युधिष्ठिर ने बसाया था; परन्तु वे ऐसी भूलों से बिलकुल बचे है, जैसी कि कहानी-कार बनने के लोलुप एक इतिहास के पंडित-पुंगव ने हाल में की है। आपने एक पच्चीस सौ वर्ष पुराने राज-प्रासाद की दीवारों पर आईने लटकवाये है, जिसकी प्रथा फिरंगियों के संग भारत में आयी!

इस कहानी में स्त्री और पुरुष की प्रकृतियों के विभिन्न दृष्टिकोण का, एवं आनुषंगिक रूप में विधाता के विधान-वैचित्र्य का बड़ा सुन्दर व्यंग है। उग्रजी की भाषा ने कहानी में और भी जान डाल दी है।

८. परदा—यशपाल प्रगतिशील परम्परा के यथार्थवादी कथाकार माने जाते है। उनकी दृष्टि में टूटते हुए मध्यवर्ती वर्ग का संघर्ष बहुत प्रत्यक्ष होकर उभरा है। प्रस्तुत कहानी मे एक मुफलिस मध्यवर्ग परिवार का ऐसा ही चित्र है। एक ओर उसकी अपनी झूठी मर्यादा, शान तथा आबरू है, जिसकी रक्षा वह सब कुछ खोकर भी करना चाहता है; दूसरी ओर उसका अपना जीवन का नग्न यथार्थ है, जिसमें वह भूखा भी है और नंगा भी। चौधरी पीरबख्श के खान्दानी दरी के

परदे को आगा ने एक झटके से अलग कर दिया और इस प्रकार कहानीकार ने इस मध्यवर्ग की सारी नग्नता को हमारे सामने उद्घाटित कर दिया है। यह चित्रण यथार्थ और मार्मिक है, पात्र सजीव हैं।

९. **रेल की रात**—जोशीजी की इस कहानी का कलेवर भरा हुआ है और इसकी गति में एक मन्थरता है, जो बुरी नहीं लगती। मानव किस प्रकार अपने सुन्दर, समृद्ध वर्त्तमान को ठुकराकर खो देता है और फिर आहत होकर मृगतृष्णा के पीछे मारा-मारा फिरता है, इसका यह एक अच्छा चित्रण है।

१०. **निंदिया लागी**—वर्गों में बँटते-बँटते आज हमारी सामाजिकता छिन्न-भिन्न ही नहीं हो गयी है, एक वर्ग में दूसरे के प्रति चुनौती का भाव भी उत्पन्न हो गया है। इस चुनौती को बलवत्तर धौंस के रूप में और निर्बल कतरब्योंत के रूप में एक-दूसरे के प्रति बरत रहा है। फलतः सहानुभूति एवं दृष्टि-विन्दु की एकता-जैसी चीज तो समाज में केवल अभाव के रूप में पायी जाती है। हाँ, संशय, अविश्वास और हृदयहीनता अवश्य हमारे समाज का व्यापक-तन्तु हो रहा है और मानव-संसार की सारी अशान्ति एवं संघर्ष का मूल है। कठिनता तो यह है कि यह कटु सत्य हम ग्रहण करने को भी प्रस्तुत नहीं।

निंदिया लागी इसी दुरवस्था का चित्रण है।...पनिया के प्रति यदि कोई आकर्षण है, तो उसके रूप-यौवन के कारण; किन्तु उसके दुख-दर्द से किसी को क्या सरोकार ?

इस कहानी के कथोपकथन में दार्शनिकता का पुट देकर वाजपेयीजी ने उसे बोझिल बना दिया है। कहानी का तात्त्विक अंग तो उसकी गति-विधि से आप-ही-आप ध्वनित हो जाता।

११. **बिधाता**—मध्यवित्त गृहस्थ हमारे साहित्य में उपेक्षित है; किन्तु सच पूछिए तो वह भी खेतिहर वा मजदूर से कम सहानुभूति का भागी नहीं। शहरी मध्य श्रेणी में जैसा अभाव एवं अशान्ति, साथ ही लोक-लज्जा के कारण मूकता व्याप्त है, उसकी ओर बहुत कम निगाहें गयी है। विनोदजी ने एक ऐसी ही परिस्थिति लेकर उसे अच्छा निबाहा है।

घर की एकमात्र शैशवी का भोलापन खिलौने वाले से कहता है—'खिलौने-वाले आज पैसा नहीं है, कल आना।' दैनिक भोजन में तरकारी तक नहीं बन सकती, जब कि प्राकृतिक चिकित्सक—'अधिक तरकारी खाओ, अधिक तरकारी खाओ'

—चिल्लाकर जमीन-आसमान एक कर रहे हैं।...गृहस्वामिनी जूठे-कूठे पर अपना दिन काट रही है। तिस पर घर का 'कर्त्ता' विना वेतन पाये लौटता है, टूटा हुआ, बुझा हुआ, मरा हुआ।...मालिक, मकानवाला सभी उसकी जान के गाहक हैं। परन्तु, रोटी का प्रश्न...!

१२. **कागज की टोपी**—कहानी-लेखन में प्रसाद-शैली के सबसे सफल अनुयायी वाचस्पति पाठक हैं। भाषा, भावों की अभिव्यक्ति और वस्तु-विन्यास तीनों ही में उनका पूरा सादृश्य पाया जाता है।

पाठकजी की कहानियाँ प्रायः समाज के उपेक्षितों के प्रति करुणा के भार से लदी रहती हैं। इस करुणा में समाज के किसी अन्य अंग के प्रति 'वनाम' की भावना नहीं रहती, केवल निरीहों के चित्रण द्वारा ही पाठकजी अपनी कृति को ऐसी सबल बना देते हैं कि प्रतिपक्षी के चित्रण की आवश्यकता नहीं रह जाती।...दादी-पोते के करुण अस्तित्व और उससे भी करुण अन्त (उसे मुक्त कहें तो अधिक उपयुक्त होगा) से हम स्वतः उस समाज के प्रति विद्रोही हो उठते हैं, जो इसकी जड़ में है।

इस कहानी का दर्द हृदय पर देर तक बना रहता है।

१३. **पत्नी**—कितना स्वाभाविक चित्रण है यह—नवीनतम शैली का, जिसमें घटना का अभाव, फिर भी पर्याप्त आकर्षण रहता है।

भारतीय पत्नी का यह चित्र आज २०वीं शताब्दी में भी भारतीय ही नहीं, संसार की अधिकांश पत्नियों की दशा का सूचक है; केवल सामाजिक विभिन्नताओं के कारण उसका वाह्य रूप पृथक् हो सकता है। मेरे इस कथन पर चौंकिए मत। स्त्रियों की पराधीनता संसार में ज्यों-की-त्यों बनी है। सम्भवतः मानव-जाति के विनाश तक बनी रहेगी, क्योंकि स्त्री अपना स्वभाव नहीं बदल सकती और पुरुष उदारता के लिए प्रस्तुत नहीं। जिस दिन तक स्त्री का अस्तित्व सेवा-भाव-परायणता और पुरुष-बुद्धि पर आस्था आदि से निर्मित रहेगा, उस दिन तक 'पत्नी' की घटना का दैनिक प्रत्यावर्त्तन होता रहेगा।

१४. **झूठ-सच**—लेखक के मन पर किसी परिस्थिति की जो प्रतिक्रिया होती है, जो अनुभूति होती है वा प्रभाव पड़ता है, उसी के आधार पर घटना और परिस्थिति का चित्रण, अँगरेजी में, 'पर्सनल एसे' कहलाता है।

ऐसा व्यक्ति घटना वा परिस्थिति वास्तविक हो सकती है और काल्पनिक

भी। इसी से कहानी और 'पर्सनल' ऐसे की सीमान्त रेखाओं का निर्णय करना कुछ कठिन-सा है। दोनों में बहुत कुछ अभिन्नता है।

झूठ-सच भी एक ऐसा ही निबन्ध है। सियारामशरणजी में थोड़ी-सी बात को बहुत विस्तार तथापि यथेष्ट रमणीयता के साथ कहने की अद्वितीय प्रतिभा है। मानव-प्रकृति का एक ऐसा पहलू इसमें उन्होंने चित्रित किया है, जिसकी परिधि के बाहर इने-गिने की ही गति हो सकती है। कलाकार ने परिस्थिति के अनुकूल वाक्यों में ध्वनि का प्रयोग विशेष कौशल के साथ किया है, जिसके कारण वे दोधारी तलवार का काम करते हैं। इस ध्वनि का अतर्कित परिपाक अन्त में होता है। और हमें अपने मानसिक पतन का बोध हो जाता है, जो तप्त मुद्रा की तरह हमारे हृदय को दाग उठता है।

१५. **हूक**—इस आख्यायिका का विधान बिलकुल नया है। नाटकीय कथनोपकथन का प्रायः अभाव, सीधा-सादा हलका-सा कथानक, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति में कला, फलतः प्रभाव।

बलराज और ऊषा दोनों ही अविवाहित हैं। यदि एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट नहीं, तो दक्षिण अवश्य है, तथापि वे निकट होने के बदले दूर होते गये। बलराज में उस अधिकार का अभाव था, जिसे पुरुष स्त्री पर रखता है; भले ही नारी ऐसे अधिकार से पिस रही हो, फिर भी पुरुष में वह उसकी अपेक्षा करती है, उसने ऐसा स्वभाव ही पाया है। यहाँ तो ऊषा में ही अधिकार की एक प्रवृत्ति थी, जिससे बलराज आतंकित हो गया था। इसी कारण दोनों के बीच का आकाश क्रमः बढ़ता गया।...परन्तु ऊषा का अभाव बलराज के लिए असह्य था।

१६. **दो बाँके**—वर्माजी की अधिकांश कहानियाँ मानव-जीवन की गम्भीर स्थितियों और उलझी हुई परिस्थितियों को लेकर चलती है। दो बाँके में उसका अभाव है। यह तो एक हलका-सा चित्रण है—'पर्सनल एसे'-जैसा।

फिर भी शहरी जीवन के खोखलेपन एवं अवध की ह्रासकालीन संस्कृति के अवशिष्ट, 'रस्सी जल गयी, ऐंठन न गयी' वाले दिखावटी जीवन का उन्होंने ऐसा सजीव व्यंग-चित्रण किया है, और ऐसी मीठी चुटकी ली है कि यदि हम दो बाके को आँख खोलकर न पढ़ें, तो सचमुच मान बैठें कि—"एक बाँका दूसरे बाँके से ही लड़ सकता है। देहातियों से उलझना उसे शोभा नहीं देता' एवं उस्ताद की मौजूदगी में, शागिर्दों को 'हाथ उठाने का कोई हक नहीं है।"

१७. **घीसा**—यह वस्तुतः एक संस्मरण है, किन्तु इसे हम कहानी की परिधि में ले सकते हैं। ऊपर झूठ-सच की टिप्पणी में हम इंगित कर चुके हैं कि किसी अनुभूति की जो प्रतिक्रिया कलाकार पर होती है, उसी की अभिव्यक्ति उसकी कला है। ऐसी अनुभूति चाहे वास्तविक पात्रों वा घटनाओं के कारण हो, चाहे काल्पनिक के। यही बात घीसा के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

महादेवीजी की शैली कवित्वमय है, किन्तु खलने वाली नहीं; क्योंकि वह दुलहिन की भाँति अवगुंठित और अलंकारों के बोझ से लदी-दबी नहीं है। बिहारी के शब्दों में—'जगर-मगर हो रही है—गाँव का एक नन्हा, मलिन, सहमा विद्यार्थी 'एक छोटी लहर के समान' उनके 'जीवन-तट को अपनी सारी आर्द्रता से छूटकर अनन्त जलराशि में विलीन हो गया है।' कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति है! करुण! ऐसी करुण रमणीयता घीसा में अथ से इति तक व्याप्त है और उसके अंतिम पैरा में तो ममता और वात्सल्य का जो परिपाक हुआ है, वह एक लेखिका के ही कलम से सम्भव है।

कवयित्री होने के साथ-साथ महादेवीजी चित्रकार भी हैं, शब्दों के द्वारा भी इस कला की पूरी प्रवीणता उन्होंने इस कृति में दिखलायी है। ऐसे अंकन के लिए कथा-भाग एक गौण वस्तु रह जाता है। उसकी न्यूनता से निबन्ध के स्वारस्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

१८. **प्रोफेसर भीम भण्टा राव**—लोग कहते हैं, भारत के युवकों में टी० बी०, भयंकर रूप से फैला हुआ है; किन्तु वस्तुतः युवकों की सबसे व्यापक और असाध्य बीमारी है—बेकारी। बेचारे बिना केवट की नैया की तरह इधर से उधर मारे-मारे फिर रहे हैं। अकबर के शब्दों में—

कालिज से सदा आ रही है पास-पास की।
ओहदों से सदा आ रही है दूर-दूर की॥

पर यही बेकारी किसी-किसी युवक को कैसा चलता-पुर्जा बना देती है, इसी का यह एक चुटीला व्यंगचित्र है। अँगरेजी के वुडहाउस नामक हास्य-रस के प्रसिद्ध कहानीकार से इसकी शैली बहुत मिलती है।

१९. **रोज**—भले ही मनुष्य ने आध्यात्मिक जीवन की अमरता सिद्ध कर ली हो, फिर भी, प्रकृति के तगादे के अनुसार उसे अपने भौतिक जीवन पर इतना ममत्व है कि उसने जिस दिन से होश सम्हाला है, उस दिन से आज तक जरा-मृत्यु-नाशक

उपायों की खोज में लगा हुआ है। धनवान मरते-मरते, जीवन का केवल एक क्षण बढ़ जाने की आशा में डाक्टर-वैद्य के लिए तोड़े का मुँह काट देता है। उसी जीवन में यदि कोई रस नहीं रह जाता, तो उसका एक-एक क्षण दूभर हो जाता है।

अज्ञेयजी ने 'रोज' में भारतीय कुटुम्ब की इस बड़ी गहरी त्रुटि का विश्लेषण किया है, जिसे दूर किये बिना वह श्मशान बना जा रहा है—मुर्दों की बस्ती; फिर ऐसे कुटुम्बों की समष्टि, समाज में जीवन कहाँ से आवे !

'आहार निद्रा भय मैथुनं च' के सिवा कुटुम्ब में एक जिन्दादिली, एक चहल-पहल भी होनी चाहिए। हमारे जीवन में तो दिन-रात वही पसीना, वही पसीना।

साधारणतः योरप के कुटुम्ब जीवन का रस बनाये रहने के लिए अपनी व्यस्तता में भी किस प्रकार समय निकाल लेते हैं। इसमें सुविभाजन और सुव्यवस्था तो है ही, वे इसका महत्त्व भी समझते हैं, इसी से प्रयासपूर्वक उसका साधन जुटाते हैं।

कोई स्वस्थ विनोद वा कोई बौद्धिक मनोरंजन जीवन का एक दैनिक अंग हुए बिना, अपने यहाँ अनेक कुटुम्बों की आज वही दशा हो रही है, जो हम 'रोज' के कुटुम्ब की पाते हैं। कहानी सुनने वाले के शब्दों में—"मैंने देखा कि सचमुच उस कुटुम्ब में कोई गहरी, भयंकर छाया घर कर गयी है, उनके जीवन के इस पहले ही यौवन में घुन की तरह लग गयी है, उसका इतना अभिन्न अंग हो गयी है कि वे उसे पहचानते ही नहीं, उसी की परिधि में घिरे हुए चले जा रहे हैं।"

अपनी बातें बहुत ही घरेलू और अकृत्रिम शब्दों में कह कर उन्हें प्रभावपूर्ण बनाने में अज्ञेयजी एक ही हैं।

२०. **पिंजरा**—यह बिलकुल नयी कहानी का एक सुन्दर नमूना है, जिसमें कथानक और कथोपकथन की कमी एवं वर्णन तथा विश्लेषण की अधिकता रहती है। ऐसी रचना हमारे जीवन के लिए विजातीय द्रव्य नहीं रह जाती, उसमें घुल-मिल जाती है, अतः भरपूर काम करती है।

मनुष्य-मनुष्य के बीच आज वर्गों की अलंघ्य खाइयाँ बन गयी हैं। ये खाइयाँ उतनी सांस्कृतिक नहीं हैं, जितनी कि आर्थिक। 'कहाँ सुदामा बापुरो कृष्ण मिताई जोग' के दिन लद गये हैं; अब तो उपेक्षा और—'दूर-दूर' का साका व्याप उठा है। 'अश्क' जी ने इसी का एक सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है जिसमें स्त्री-पारतन्त्र्य की चुभन भी है। दलितों के प्रति लेखक की मार्मिक सहानुभूति को हम बरबस

अपना लेते हैं।

२१. **एटम बम**—अमृतलाल नागर की दृष्टि में जीवन का सारा चित्र उभरता है और वे बिना किसी कलात्मक योजना के अपनी कथा में उसे अंकित करते हैं। और जीवन का अर्थ उनके लिए केवल चतुर्दिक् नहीं है, वरन् सारे देश-काल की सीमा का जीवन जो उनको स्पर्श करता है, स्पन्दित करता है। इस कहानी में पिछले महायुद्ध की विभीषिका में ग्रस्त जापान के नगर हिरोशिमा के वासियों की आंतरिक पीड़ा ने उसे बहुत गहरे उतर कर आविर्भूत किया है। कोबायाशी की शारीरिक वेदना से कहीं अधिक गहरी उनकी आन्तरिक व्यथा है, जो कहानीकार की संवेदना के साथ सम्पूर्ण मनुष्य की अपनी बन गयी है। इस भयानक दुर्घटना के ठीक पहले कोबायाशी की पत्नी एक नये जीवन को जन्म देने वाली थी और वह अस्पताल के बाहर उसकी प्रतीक्षा कर रहा था—यह स्मृति कोबायाशी के मन में अब भी छायी हुई है। वस्तुतः इस परिस्थिति की कल्पना से लेखक ने जीवन और विनाश के विरोध को सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया है। डा० सुजकी के माध्यम से लेखक यदि निराशा और खीझ व्यक्त करता है, तो नर्स की कर्तव्यनिष्ठा में भविष्य के प्रति आशा का संकेत भी देता है।

जयशंकर 'प्रसाद'

(जन्म—१८८९, मृत्यु—१९३७ ई०)



काशी के एक प्रतिष्ठित और धनी वैश्य घराने में प्रसादजी का जन्म हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा घर पर तथा क्वींस कालेज में ८वें दर्जे तक हुई। १२ वर्ष की अवस्था में पिता की मृत्यु हो जाने से स्कूल की पढ़ाई छूट गयी। इन्होंने बड़े भाई के संरक्षण में घर पर ही संस्कृत, हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी का ज्ञान प्राप्त किया।

इनके घर पर समस्यापूर्ति करने वाले कवियों का जमघट लगा रहता था। इस मंडली के प्रभाव से बाल्य-काल से ही कविता के प्रति इनकी रुचि जागृत हो गयी। यह २५ वर्ष की अवस्था में दूकान पर बहीखाते के रद्दी कागज पर कविता लिखा करते थे। प्रसादजी के जीवन में ही उनके ८ कविता-संग्रह, ९ नाटक, २ उपन्यास और ५ कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए। उनके निबन्धों का एक संग्रह उनकी मृत्यु के दो वर्ष बाद प्रकाशित हुआ तथा एक अधूरा उपन्यास भी कुछ काल बाद प्रकाशित हुआ। प्रसादजी एक नये साहित्यिक युग के निर्माता ही नहीं थे, एक नई विचार-शैली और नव्य दर्शन के उद्भावक भी थे। उन्होंने उदात्त और शक्तिशाली भावनाओं तथा जीवनमय चरित्रों का निर्माण अपने साहित्य में किया है।

देवरथ

दो-तीन रेखाएँ भाल पर, काली पुतलियों के समीप मोटी और काली बरौ-नियों का घेरा, घनी आपस में मिली रहने वाली भवें और नासा-पुट के नीचे हलकी-हलकी हरियाली उस तापसी के गोरे मुँह पर सबल अभिव्यक्ति की प्रेरणा प्रकट करती थीं।

यौवन, काषाय से कहीं छिप सकता है? संसार को दुःखपूर्ण समझकर ही तो वह संघ की शरण में आयी थी। उसके आशापूर्ण हृदय पर कितनी ही ठोकरें लगी थीं। तब भी यौवन ने साथ न छोड़ा, भिक्षुकी बन कर भी वह शान्ति न पा सकी थी। वह आज अत्यन्त अधीर थी।

चैत की अमावस्या का प्रभात था। अश्वत्थ वृक्ष की मिट्टी-सी सफेद डालों और तने पर ताम्र अरुण कोमल पत्तियाँ निकल आयी थीं। उन पर प्रभात की किरणें पड़कर लोट-पोट हो जाती थीं। इतनी स्निग्ध शय्या उन्हें कहाँ मिली थी।

सुजाता सोच रही थी। आज अमावस्या है। अमावस्या तो उसके हृदय में सवेरे से ही अन्धकार भर रही थी। दिन का आलोक उसके लिए नहीं के बराबर था। वह अपने विशृंखल विचारों को छोड़ कर कहाँ भाग जाय। शिकारियों का झुंड और अकेली हरिणी! उसकी आँखें बन्द थीं।

आर्य्यमित्र खड़ा रहा। उसने देख लिया कि सुजाता की समाधि अभी न खुलेगी। वह मुस्कुराने लगा। उसके कृत्रिम शील ने भी उसको वर्जित किया। संघ के नियमों ने उसके हृदय पर कोड़े लगाये; पर वह भिक्षु वहीं खड़ा रहा।

भीतर के अन्धकार से ऊब कर सुजाता ने आलोक के लिए आँखें खोल दीं। आर्य्यमित्र को देखकर आलोक की भीषणता उसकी आँखों के सामने नाचने लगी। उसने शक्ति बटोर कर कहा—वन्दे!

आर्य्यमित्र पुरुष था, भिक्षु था। भिक्षुकी का उसके सामने नत होना संघ का नियम था। आर्य्यमित्र ने हँसते हुए अभिवादन कर उत्तर दिया, और पूछा—सुजाता, आज तुम स्वस्थ हो?

सुजाता उत्तर देना चाहती थी। पर... आर्य्यमित्र के काषाय के नवीन

रंग में उसका मन उलझ रहा था। वह चाहती थी कि आर्य्यमित्र चला जाय; चला जाय उसकी चेतना के घेरे के बाहर। इधर वह अस्वस्थ थी, आर्य्यमित्र उसे औषधि देता था। संघ का वह वैद्य था। अब वह अच्छी हो गई है। उसे आर्य्यमित्र की आवश्यकता है नहीं; किन्तु . . . है तो . . . हृदय को उपचार की अत्यन्त आवश्यकता है। तब भी आर्य्यमित्र ! वह क्या करे। बोलना ही पड़ा।

'हाँ अब तो स्वस्थ हूँ।'

'अभी पथ्य सेवन करना होगा।'

'अच्छा।'

'मुझे और भी बात कहनी है।'

'क्या ? नहीं, क्षमा कीजिए। आपने कब से प्रव्रज्या ली है ?'

'वह सुनकर तुम क्या करोगी। संसार ही दुःखमय है।'

'ठीक तो . . . अच्छा, नमस्कार।'

आर्य्यमित्र चला गया; किन्तु उसके जाने से जो आन्दोलन आलोक-तरंग में उठा, उसी में सुजाता झूमने लगी थी। उसे मालूम नहीं, कब से महास्थविर उसके समीप खड़े थे।

* * *

समुद्र का कोलाहल कुछ सुनने नहीं देता था। संध्या धीरे-धीरे विस्तृत नील जलराशि पर उतर रही थी। तरंगों पर तरंगें बिखर कर चूर हो रही थीं। सुजाता बालुका की शीतल वेदी पर बैठी हुई अपलक आँखों से उस क्षणिकता का अनुभव कर रही थी; किन्तु नीलाम्बुधि का महान् सम्भार किसी वास्तविकता की ओर संकेत कर रहा था। सत्ता की सम्पूर्णता धुँधली संध्या में मूर्तिमान हो रही थी। सुजाता बोल उठी—

'जीवन सत्य है, संवेदन सत्य है, आत्मा के आलोक में अन्धकार कुछ नहीं है।'

'सुजाता, यह क्या कह रही हो ?'—पीछे से आर्य्यमित्र ने कहा।

'कौन आर्य्यमित्र ! मैं भिक्षुनी क्यों हुई आर्य्यमित्र ?'

'व्यर्थ सुजाता ! मैंने अमावस्या की गम्भीर रजनी में संघ के सम्मुख पापी होना स्वीकार कर लिया है। अपने कृत्रिम शील के आवरण में सुरक्षित नहीं रह सका। मैंने महास्थविर से कह दिया कि संघमित्र का पुत्र आर्य्यमित्र सांसारिक

विभूतियों की उपेक्षा नहीं कर सकता। कई पुरुषों की संचित महौषधियाँ, कलिंग के राजवैद्य पद का सम्मान, सहज में छोड़ा नहीं जा सकता। मैं केवल सुजाता के लिए ही भिक्षु बना था। उसी का पता लगाने के लिए मैं नील विहार में आया था। वह मेरी वाग्दत्ता भावी पत्नी है।

'किन्तु आर्य्यमित्र, तुमने विलम्ब किया, मैं तुम्हारी पत्नी न हो सकूँगी।'—सुजाता ने बीच ही में रोक कर कहा।

'क्यों सुजाता! यह काषाय क्या श्रृंखला है? फेंक दो इसे। वाराणसी के स्वर्ण-खचित वसन ही तुम्हारे परिधान के लिए उपयुक्त हैं। रत्नमाला, मणि-कंकण और हेम-काँची तुम्हारी कमल-कोमल अंग-लता को सजावेंगी। तुम राज-रानी बनोगी।'

'किन्तु . . .'

'किन्तु क्या सुजाता? मेरा हृदय फटा जाता है। बोलो, मैं संघ का बन्धन तोड़ चुका हूँ और तुम भी तो जीवन की, आत्मा की क्षणिकता में विश्वास नहीं करती हो?'

'किन्तु आर्य्यमित्र! मैं वह अमूल्य उपहार—जो स्त्रियाँ, कुलवधुएँ अपने पति के चरणों में समर्पण करती हैं—कहाँ से लाऊँगी? वह वरमाला, जिसमें दूर्वा-सदृश कौमार्य्य हरा-भरा रहता हो, जिसमें मधूक-कुसुम-सा हृदय-रस भरा हो, कैसे कहाँ से तुम्हें पहना सकूँगी?'

'क्यों सुजाता? उसमें कौन-सी बाधा है!'—कहते-कहते आर्य्यमित्र का स्वर कुछ तीक्ष्ण हो गया। वह अँगूठे से बालू बिखेरने लगा।

'उसे सुनकर तुम क्या करोगे? जाओ, राज-सुख भोगो। मुझ जन्म की दुखिया के पीछे अपना आनन्दपूर्ण भविष्य-संसार नष्ट न करो आर्य्यमित्र! जब तुमने संघ का बन्धन भी तोड़ दिया है, तब मुझ पामरी के मोह का बन्धन भी तोड़ डालो।'

सुजाता के वक्ष में श्वास भर रहा था।

आर्य्यमित्र ने निर्जन समुद्र-तट के उस मलिन सायंकाल में सुजाता का हाथ पकड़कर तीव्र स्वर में पूछा—'सुजाता, स्पष्ट कहो; क्या तुम मुझसे प्रेम नहीं करती हो?'

'करती हूँ आर्य्यमित्र, इसी का दुःख है। नहीं तो भैरवी के लिए किस उपभोग की कमी है?'

आर्य्यमित्र ने चौंककर सुजाता का हाथ छोड़ते हुए कहा—'क्या कहा—भैरवी !'

'हाँ आर्य्यमित्र ! मैं भैरवी हूँ, मेरी...'

आगे वह कुछ न कह सकी। आँखों से जल-विन्दु ढुलक रहे थे, जिसमें वेदना के समुद्र ऊर्मिल हो रहे थे।

आर्य्यमित्र अधीर होकर सोचने लगा—[illegible] पवित्र बन्धनों को तोड़कर जिस मुक्ति की—निर्वाण की—आशा में जनता दौड़ रही है, क्या उस धर्म की यही सीमा है ! यह अन्धेर—गृहस्थों का सुख न देख सकने वालों का यह निर्मम दण्ड, समाज कब तक भोगेगा ?

सहसा प्रकृतिस्थ होकर उसने कहा—'सुजाता ! मेरा सिर घूम रहा है, जैसे देवरथ का चक्र; परन्तु मैं तुमको अब भी पत्नी रूप से ग्रहण करूँगा। सुजाता, चलो।'

'किन्तु मैं तो तुम्हें पतिरूप से ग्रहण न कर सकूँगी। अपनी सारी लाञ्छना तुम्हारे साथ बाँटकर जीवन-संगिनी बनने का दुस्साहस मैं न कर सकूँगी। आर्य्यमित्र, मुझे क्षमा करो ! मेरी वेदना रजनी से भी काली और दुःख समुद्र से विस्तृत है। स्मरण है ? इसी महोदधि के तट पर बैठकर, सिकता में हम लोग अपना नाम साथ-ही-साथ लिखते थे। चिर-रोदनकारी निष्ठुर समुद्र अपनी लहरों की उँगली से उसे मिटा देता था। मिट जाने [illegible] से प्रेम का नाम ! आर्य्यमित्र, इस रजनी के अन्धकार में उसे विलीन हो जाने दो।'

'सुजाता !'—सहसा एक कठोर स्वर सुनाई पड़ा।

दोनों ने घूमकर देखा, अन्धकार-सी भीषण मूर्ति, संघ-स्थविर !

* * *

उसके जीवन के परमाणु बिखर रहे थे। निशा की कालिमा में, सुजाता सिर झुकाए हुए बैठी, देव-प्रतिमा की रथ-यात्रा का समारोह देख रही थी; किन्तु दौड़कर छिप जाने वाले मूक दृश्य के समान वह किसी को समझ न पाती थी। स्थविर ने उसके सामने आकर कहा—सुजाता, तुमने प्रायश्चित्त किया ?

'किसके पाप का प्रायश्चित्त ! तुम्हारे या अपने ?'—तीव्र स्वर में सुजाता ने कहा।

'अपने और आर्य्यमित्र के पापों का—सुजाता ! तुमने अविश्वासी हृदय,

से धर्म-द्रोह किया है।'

'धर्मद्रोह ! आश्चर्य !!'

'तुम्हारा शरीर देवता को समर्पित था, सुजाता ! तुमने...'

बीच ही में उसे रोककर तीव्र स्वर में सुजाता ने कहा—'चुप रहो असत्यवादी ! वज्रयानी नर-पिशाच !...'

एक क्षण में उस भीषण मनुष्य की कृत्रिम शान्ति विलीन हो गयी। उसने दाँत किट-किटाकर कहा—'मृत्यु-दण्ड !'

सुजाता ने उसकी ओर देखते हुए कहा—'कठोर से भी कठोर मृत्यु-दण्ड मेरे लिए कोमल है। मेरे लिए इस स्नेहमयी धरणी पर बचा ही क्या है ? स्थविर ! तुम्हारा धर्मशासन घरों को चूर-चूर करके विहारों की सृष्टि करता है—कुचक्र में जीवन को फँसाता है। पवित्र गार्हस्थ्य बन्धनों को तोड़कर तुम लोग भी अपनी वासना-तृप्ति के अनुकूल ही तो एक नया घर बनाते हो, जिसका नाम बदल देते हो। तुम्हारी तृष्णा तो साधारण सरल गृहस्थों से भी तीव्र है, क्षुद्र है और निम्न-कोटि की है !'

'किन्तु सुजाता, तुम को मरना होगा।'

'तो मरूँगी स्थविर ; किन्तु तुम्हारा यह काल्पनिक आडम्बरपूर्ण धर्म भी मरेगा। मनुष्यता का नाश करके कोई भी धर्म खड़ा नहीं रह सकता !'

'कल ही !'

'हाँ, कल प्रभात में तुम देखोगे कि सुजाता कैसे मरती है !'

सुजाता मन्दिर के विशाल स्तम्भ से टिकी हुई, रात्रिव्यापी उत्सव को स्थिर दृष्टि से देखती रही। एक बार उसने धीरे से पूछा—

'देवता, यह उत्सव क्यों ? क्या जीवन की यंत्रणाओं से तुम्हारी पूजा का उपकरण संग्रह किया जा सकता है ?'

प्रतिमा ने कोई उत्तर नहीं दिया।

प्रभात की किरणें मन्दिर के शिखर पर हँसने लगीं।

देव-विग्रह ने रथ-यात्रा के लिए प्रयाण किया। जनता तुमुलनाद से जय-घोष करने लगी।

सुजाता ने देखा, पुजारियों के दल में कौशेय वसन पहने हुए आर्य्यमित्र भी भक्ति-भाव से चला जा रहा है। उसकी इच्छा हुई कि आर्य्यमित्र को बुलाकर

कहे कि वह उसके साथ चलने को प्रस्तुत है।

सम्पूर्ण बल से उसने पुकारा—आर्य्यमित्र !

किन्तु उस कोलाहल में कौन सुनता है। देवरथ विस्तीर्ण राज-पथ मे चलने लगा। उसके दृढ़ चक्र धरणी की छाती में गहरी लीक डालते हुए आगे बढ़ने लगे। उस जन-समुद्र में सुजाता फाँद पड़ी और एक क्षण में उसका शरीर देवरथ के भीषण चक्र से पिस उठा।

रथ खड़ा हो गया। स्थविर ने दृष्टि से सुजाता के शव को देखा। अभी वह कुछ बोलना ही चाहता था कि दर्शकों और पुजारियों का दल, 'काला पहाड़ ! काला पहाड़ !! ' चिल्लाता हुआ इधर-उधर भागने लगा। धूलि की घटा में बरछियों की बिजलियाँ चमकने लगीं।

देव-विग्रह एकाकी धर्मोन्मत्त 'काला पहाड़' के अश्वारोहियों से घिर गया—रथ पर था देव-विग्रह और नीचे सुजाता का शव।

उसने कहा था

बड़े-बड़े शहरों के इक्केगाड़ी वालों की जबान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गयी है, और कान पक गये हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है, कि अमृतसर बम्बूकार्ट-वालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए, इक्केवाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राहचलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अँगुलियों के पोरों को चींथकर अपने-ही को सताया हुआ बताते हैं, और संसार-भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने, नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरी वाले तंग चक्करदार गलियों में, हर-एक लड्ढीवाले के लिए ठहरकर, सब्र का समुद्र उमड़ाकर 'बचो खालसाजी!' 'हटो भाईजी!' 'ठहरना भाई!' 'आने दो लालाजी!' 'हटो बाछा*!'—कहते हुए सफेद फेंटों, खच्चरों और बत्तकों, और गन्ने, खोमचे और भारेवालों के जंगल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है, कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं है; पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती, तो उनकी वचनावली के नमूने हैं—हट जा जीणे जोगिए; हट जा कमरा वालिए; हट जा पुत्तां प्यारिए; बच जा लम्बी वालिए। समष्टि में इनके अर्थ हैं, कि तू जीने योग्य है, तू भाग्यों वाली है, पुत्रों को प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहिये के नीचे आना चाहती है?—बच जा।

ऐसे बम्बूकार्टवालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक की एक दूकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था,

---

*बादशाह

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

(जन्म—१८८३, मृत्यु—१९२२ ई०)



गुलेरीजी का जन्म जयपुर के एक समृद्ध घराने में हुआ। आपके पिता पंडित शिवराम शास्त्री जयपुर संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल और अपने समय के श्रेष्ठ विद्वान् थे। चन्द्रधरजी का विद्यार्थी-जीवन बहुत गौरवपूर्ण रहा। सोलह वर्ष की अवस्था में प्रयाग विश्वविद्यालय की एन्ट्रेंस परीक्षा पास की और उसमें सर्वप्रथम रहे। कलकत्ता युनिवर्सिटी की एन्ट्रेंस परीक्षा में भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। १९०४ में प्रयाग विश्वविद्यालय की बी० ए० की परीक्षा पास की और उसमें सर्वप्रथम रहे। इसी वर्ष मेयो कालेज, अजमेर में संस्कृत के प्रधान अध्यापक नियुक्त हो गये। १९०४ से १९०७ के बीच बहुत-से लेख लिखे, जिसके फलस्वरूप इनकी पुरातत्त्व, भाषा-तत्त्व, प्राचीन इतिहास, संस्कृत, वैदिक संस्कृत, पाली तथा प्राकृत के श्रेष्ठ विद्वानों में गणना होने लगी। इनका 'पुरानी हिन्दी' शीर्षक लेख ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्व का है। आप १९२० में हिन्दू युनिवर्सिटी बनारस में कालेज आफ ओरियंटल लर्निंग एण्ड थियोलौजी के प्रिंसिपल नियुक्त हुए। आपने ३ कहानियाँ ही लिखीं थीं। इनमें से 'सुखमय जीवन' १९११ में 'भारतमित्र' में छपी थी। दूसरी कहानी 'बुद्धू का काँटा' है। 'उसने कहा था' अक्टूबर १९१५ की 'सरस्वती' में छपी थी। आपकी यह तीन कहानियाँ ही आपको कथा-साहित्य में अमर करने को पर्याप्त हैं।

उसने कहा था

बड़े-बड़े शहरों के इक्केगाड़ी वालों की जबान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गयी है, और कान पक गये हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है, कि अमृतसर बम्बूकार्ट-वालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए, इक्केवाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राहचलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अँगुलियों के पोरों को चींथकर अपने-ही को सताया हुआ बताते हैं, और संसार-भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने, नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरी वाले तंग चक्करदार गलियों में, हर-एक लड्ढीवाले के लिए ठहरकर, सब्र का समुद्र उमड़ाकर 'बचो खालसाजी!' 'हटो भाईजी!' 'ठहरना भाई!' 'आने दो लालाजी!' 'हटो बाछा*!'—कहते हुए सफेद फेंटों, खच्चरों और बत्तकों, और गन्ने, खोमचे और भारेवालों के जंगल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है, कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं है; पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती, तो उनकी वचनावली के नमूने हैं—हट जा जीणे जोगिए; हट जा करमा वालिए; हट जा पुत्तां प्यारिए; बच जा लम्बी वालिए। समष्टि में इनके अर्थ हैं, कि तू जीने योग्य है, तू भाग्यों वाली है, पुत्रों को प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहिये के नीचे आना चाहती है?—बच जा।

ऐसे बम्बूकार्टवालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक की एक दूकान पर आ मिले। उस [illegible] सुथने से जान पड़ता था,

---

*बादशाह

कि दोनों सिक्ख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिए दही लेने आया था, और यह रसोई के लिए बड़ियाँ। दूकानदार एक परदेशी से गुँथ रहा था, जो सेर-भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना हटता न था।

'तेरे घर कहाँ हैं?'

'मगरे में;—और तेरे?'

'माँझे में;—यहाँ कहाँ रहती है?'

'अतरसिंह की बैठक में; वे मेरे मामा हैं।'

'मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ; उनका घर गुरु बाजार में है।'

इतने में दूकानदार निवटा, और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ-साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुसकराकर पूछा—'तेरी कुड़माई* हो गयी?'

इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ाकर 'धत्' कहकर दौड़ गयी, लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे-तीसरे दिन सब्जीवाले के यहाँ, दूधवाले के यहाँ, अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना-भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा,—'तेरी कुड़माई हो गयी?' और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिए पूछा तो लड़की, लड़के की सम्भावना के विरुद्ध बोली—'हाँ, हो गयी।'

'कब?'

'कल; देखते नहीं, यह रेशम से कढ़ा हुआ 'सालू'†'

लड़की भाग गयी। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छाबड़ीवाले की दिन-भर की कमाई खोयी, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभीवाले के ठेले में दूध उड़ेल दिया। सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अन्धे की उपाधि पायी। तब कहीं घर पहुँचा।

२

'राम-राम, यह भी कोई लड़ाई है! दिन-रात खन्दकों में बैठे हड्डियाँ अकड़ गयीं। लुधियाना से दस-गुना जाड़ा और मेह, और बरफ ऊपर से।

---

*मँगनी। †ओढ़नी।

पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। गनीम कहीं दिखता नहीं;—घंटे-दो-घंटे में कान के परदे फाड़नेवाले धमाके के साथ सारी खन्दक हिल जाती है और सौ-सौ गज धरती उछर पड़ती है। इस दैवी-गोले से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का ज़लज़ला सुना था, यहाँ दिन में पचीस ज़लज़ले होते हैं। जो कहीं खन्दक से बाहर साफा या कुहनी निकल गयी, तो चटाक से गोली लगती है। न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए हैं या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।'

'लहनासिंह और तीन दिन हैं। चार तो खन्दक में बिता ही दिये। परसों 'रिलीफ' आ जायगी, और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका † करेंगे, और पेट-भर खाकर सो रहेंगे। उसी फिरंगी‡ मेम के बाग में—मखमल की-सी हरी घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती। कहती है—तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आये हो।'

'चार दिन तक पलक नहीं झँपी। बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ाकर मार्च का हुक्म मिल जाय। फिर सात जर्मनों को अकेला मारकर न लौटूँ, तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं, और पैर पकड़ने लगते हैं। यों अँधेरे में तीस-तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो—'

'नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते। क्यों?'—सूबेदार हजारासिंह ने मुसकराकर कहा—'लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाये नहीं चलते। बड़े अफसर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ़ बढ़ गये तो क्या होगा?'

'सूबेदारजी, सच है'—लहनासिंह बोला—'पर करें क्या? हड्डियों-हड्डियों में तो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं, और खाई में दोनों तरफ़ से चम्बे की बावलियों के-से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाय, तो गरमी आ जाय।'

'उदमी* उठ, सिगड़ी में कोले डाल। वज़ीरा, तुम चार जने बालटियाँ लेकर

---

†बकरा मारना। ‡फ्रेंच। *उद्यमी।

खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह, शाम हो गयी है, खाई के दरवाज़े का पहरा बदला दे।' —यह कहते हुए सूबेदार सारी खन्दक में चक्कर लगाने लगे।

वज़ीरासिंह पलटन का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भर कर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—'मैं पाधा बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण!' —इस पर सब खिलखिला पड़े, और उदासी के बादल फट गये।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भरकर उसके हाथ में देकर कहा—'अपनी बाड़ी के खरबूज़ों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब-भर में नहीं मिलेगा।'

'हाँ देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमां† जमीन यहाँ माँग लूँगा, और फलों के बूटे‡ लगाऊँगा।'

'लाड़ीहोरां§ को भी यहाँ बुला लोगे? या वही दूध पिलाने वाली फिरंगी मेम—'

'चुपकर। यहाँ वालों को शरम नहीं।'

'देश-देश की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तम्बाखू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है और पीछे हटता हूँ, तो समझती है, कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुलक के लिए लड़ेगा नहीं।'

'अच्छा, अब बोधासिंह कैसा है?'

'अच्छा है।'

'जैसे मैं जानता ही न होऊँ! रात भर तुम अपने दोनों कम्बल उसे उढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुजर करते हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न माँदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है मौत है, और 'निमोनिया' से मरनेवालों को मुरब्बे* नहीं मिला करते।'

'मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाये हुए आँगन के पेड़ की छाया होगी।'

---

†जमीन की नाप। ‡पेड़। §स्त्री का आदरवाचक शब्द। *नई नहरों के पास वर्ग-भूमि।

वज़ीरासिंह ने त्यौरी चढ़ाकर कहा—'क्या मरने-मारने की बात लगायी है ? मरे जर्मनी और तुरक ! हाँ भाइयो, कैसे—

दिल्ली शहर तें पिशौर नुं जाँदिए,
कर लेणा लौंगा दा व्योपार मंडिए;
(ओय) लाणा चटाका कदुए नुं ।
कद्दू बण्याए मजेदार गोरिए,
हुण लागा चटाका कदुए नुं ॥

कौन जानता था कि दाढ़ियोंवाले, घरबारी सिख ऐसा लुच्चों का गीत गायेंगे; पर सारी खन्दक इस गीत से गूँज उठी और सिपाही फिर ताज़े हो गये, मानो चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

३

दोपहर बीत गयी है। अँधेरा है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोधासिंह खाली बिसकुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कम्बल बिछाकर और लहनासिंह के दो कम्बल और बरानकोट§–ओढ़ कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुँह पर है और एक बोधसिंह के दुबले शरीर पर। बोधसिंह कराहा।

'क्यों बोधा भाई, क्या है ?'

'पानी पिला दो।'

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगाकर पूछा—'कहो, कैसे हो ?' पानी पीकर बोधा बोला—'कँपनी* छुट रही है। रोम-रोम में तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।'

'अच्छा, मेरा जरसी पहन लो।'

'और तुम ?'

'मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गरमी लगती है। पसीना आ रहा है।

'ना, मैं नहीं पहनता; चार दिन से तुम मेरे लिए—'

'हाँ, याद आयी। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सवेरे ही आयी है। विलायत से मेमें बुन-बुनकर भेज रही हैं। गुरु उनका भला करें।' —यों कहकर

---

§ओवरकोट। *कँपकपी।

लहना अपना कोट उतार कर जरसी उतारने लगा।

'सच कहते हो ?'

'और नहीं झूठ ?' —यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने जबरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट और जीन का कुरता-भर पहनकर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घंटा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज आयी—'सूबेदार हजारासिंह !'

'कौन लपटन साहब ! हुकुम हुजूर ?'—कहकर सूबेदार तनकर फौजी सलाम करके सामने हुआ।

'देखो, इसी समय धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से जियादह जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे दो खेत काट कर रास्ता है। तीन-चार घुमाव हैं, जहाँ मोड़ है। वहाँ पन्द्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़कर सब को साथ ले उनसे जा मिलो। खन्दक छीन कर वहीं, जब तक दूसरा हुक्म न मिले, डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।'

'जो हुकुम।'

चुपचाप सब तैयार हो गये। बोधा भी कम्बल उतारकर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ, तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझ कर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुंह फेरकर खड़े हो गये और जेब से सिगरेट निकालकर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा—'लो तुम भी पियो।'

आँख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपाकर बोला—'लाओ साहब।'—हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा। बाल देखे। तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियों वाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गये और उनकी जगह कैदियों-से कटे हुए बाल कहाँ से आ गये ?

शायद साहब शराब पिये हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौका मिल

गया है ? लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उनकी रेजिमेंट में थे।

'क्यों साहब हम लोग हिन्दुस्तान कब जायँगे ?'

'लड़ाई खत्म होने पर। क्यों क्या यह देश पसन्द नहीं ?'

'नहीं साहब, शिकार के वे मजे यहाँ कहाँ ? याद है, पार साल नकली लड़ाई के पीछे हम-आप जगाधरी जिले में शिकार करने गये थे—'हाँ, हाँ'—वहीं जब आप खोते* पर सवार थे और आपका खानसामा अब्दुल्ला रास्ते के एक मन्दिर में जल चढ़ाने को रह गया था ? 'बेशक, पाजी कहीं का'—सामने से वह नीलगाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी। और आपकी एक गोली कन्धे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफसर के साथ शिकार खेलने में मजा है ! क्यों साहब, शिमले से तैयार होकर उस नीलगाय का सिर आ गया था न ? आपने कहा था कि रेजिमेंट की मेस में लगायेंगे।' 'हाँ, पर मैंने वह विलायत भेज दिया'—'ऐसे बड़े-बड़े सींग ! दो-दो फुट के तो होंगे ?'

'हाँ, लहनासिंह, दो फुट चार इञ्च के थे। तुमने सिगरेट नहीं पिया ?'

'पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ'—कहकर लहनासिंह खन्दक में घुसा। अब उसे सन्देह नहीं रहा था। उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिए।

अँधेरे में किसी सोने वाले से वह टकराया।

'कौन ? वजीरासिंह ?'

'हाँ, क्यों लहनासिंह ? क्या, कयामत आ गयी ? जरा तो आँख लगने होती ?'

४

'होश में आओ। कयामत आयी और लपटन साहब की वर्दी पहन कर आयी है।'

'क्या ?'

'लपटन साहब या तो मारे गये हैं या कैद हो गये हैं। उनकी वर्दी पहनकर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुँह नहीं देखा। मैंने देखा और बातें

---

*गधा।

की है। सौहरा* साफ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू और मुझे पीने को सिगरेट दिया है।'

'तो अब ?'

'अब मारे गये। धोखा है। सूबेदार होराँ कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पल्टन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गये होंगे। सूबेदार से कहो कि एकदम लौट आवें। खन्दक की बात झूठ है। चले जाओ, खन्दक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खड़के। देर मत करो।'

'हुकुम तो यह है कि यहीं—'

'ऐसी-तैसी हुकुम की ! मेरा हुकुम—जमादार लहनासिंह, जो इस वक्त यहाँ सब से बड़ा अफ़सर है, उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूँ।'

'पर यहाँ तो तुम आठ ही हो।'

'आठ नहीं, दस लाख। एक-एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।'

लौट कर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले, तीनों को जगह-जगह खन्दक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार-सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा। बाहर की तरफ जाकर एक दियासलाई जलाकर गुत्थी पर रखने—

बिजली की तरह दोनों हाथों से उल्टी बन्दूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तान कर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुन्दा साहब की गर्दन पर मारा और साहब 'आख ! मीन गौट्ट'*कहते हुए चित्त हो गये। लहनासिंह ने तीनों गोले बीनकर खन्दक के बाहर फेंके और साहब को घसीटकर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन-चार लिफाफे और एक डायरी निकाल कर उन्हें अपने जेब के हवाले किया।

---

*सुसरा (गाली)। *हाय ! मेरे राम (जर्मन)।

साहब की मूर्च्छा हटी। लहनासिंह हँसकर बोला—क्यों लपटन साहब ? मिजाज कैसा है ? आज मैंने बहुत बातें सीखी। यह सीखा कि सिक्ख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नीलगायें होती है और उनके दो फुट चार इंच के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाते है और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं ; पर यह तो कहो, ऐसी साफ उर्दू कहाँ से सीख आये ! हमारे लपटन साहब तो बिना 'डैम' के पांच लफ्ज भी नहीं बोला करते थे।

लहना ने पतलून के जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने, मानो जाड़े से बचने के लिए, दोनों हाथ जेब में डाले।

लहनासिंह कहता गया—'चालाक तो बड़े हो, पर माँझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिए चार आँखें चाहिए। तीन महीने हुए एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों को बच्चे होने की ताबीज बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा* बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था जर्मनीवाले बड़े पण्डित है। वेद पढ़-पढ़ कर उसमें से विमान चलाने की विद्या जान गये है। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आ जायेंगे, तो हत्या बन्द कर देंगे। मण्डी के बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपया निकाल लो; सरकार का राज्य जाने वाला है। डाक-बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूड़ दी थी और गाँव से बाहर निकालकर कहा था कि मेरे गाँव में अब पैर रक्खा, तो—'

साहब की जेब में से पिस्तौल चली और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरीमार्टिनी के दो फायरों ने साहब की कपालक्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आये।

बोधा चिल्लाया—'क्या है ?'

लहनासिंह ने उसे यह कहकर सुला दिया कि 'एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया' और औरों से सब हाल कह दिया। सब बन्दूकें लेकर तैयार हो गये। लहना ने साफा फाड़ कर घाव के दोनों तरफ पट्टियाँ कसकर बाँधीं। घाव माँस में ही था ? पट्टियों के कसने से लहू निकलना बन्द हो गया।

की हैं। सौहरा* साफ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू और मुझे पीने को सिगरेट दिया है।'

'तो अब ?'

'अब मारे गये। धोखा है। सूबेदार होराँ कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पल्टन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गये होंगे। सूबेदार से कहो कि एकदम लौट आवें। खन्दक की बात झूठ है। चले जाओ, खन्दक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खड़के। देर मत करो।'

'हुकुम तो यह है कि यहीं—'

'ऐसी-तैसी हुकुम की! मेरा हुकुम—जमादार लहनासिंह, जो इस वक्त यहाँ सब से बड़ा अफसर है, उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूँ।'

'पर यहाँ तो तुम आठ ही हो।'

'आठ नहीं, दस लाख। एक-एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।'

लौट कर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले, तीनों को जगह-जगह खन्दक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार-सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा। बाहर की तरफ जाकर एक दियासलाई जलाकर गुत्थी पर रखने—

बिजली की तरह दोनों हाथों से उल्टी बन्दूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तान कर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुन्दा साहब की गर्दन पर मारा और साहब 'आख! मीन गौट्ट'*कहते हुए चित्त हो गये। लहनासिंह ने तीनों गोले बीनकर खन्दक के बाहर फेंके और साहब को घसीटकर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन-चार लिफाफे और एक डायरी निकाल कर उन्हें अपने जेब के हवाले किया।

---

*सुसरा (गाली)। *हाय! मेरे राम (जर्मन)।

साहब की मूर्च्छा हटी। लहनासिंह हँसकर बोला—क्यों लपटन साहब? मिजाज कैसा है? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नीलगायें होती है और उनके दो फुट चार इंच के सींग होते है। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते है; पर यह तो कहो, ऐसी साफ उर्दू कहाँ से सीख आये! हमारे लपटन साहब तो बिना 'डैम' के पाँच लफ्ज भी नहीं बोला करते थे।

लहना ने पतलून के जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने, मानो जाड़े से बचने के लिए, दोनों हाथ जेब में डाले।

लहनासिंह कहता गया—'चालाक तो बड़े हो, पर माँझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिए चार आँखें चाहिए। तीन महीने हुए एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों को बच्चे होने की ताबीज बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा* बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था जर्मनीवाले बड़े पण्डित है। वेद पढ़-पढ़ कर उसमें से विमान चलाने की विद्या जान गये है। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आ जायेंगे, तो हत्या बन्द कर देंगे। मण्डी के बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपया निकाल लो; सरकार का राज्य जाने वाला है। डाक-बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूड़ दी थी और गाँव से बाहर निकालकर कहा था कि मेरे गाँव में अब पैर रक्खा, तो—'

साहब की जेब में से पिस्तौल चली और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरीमार्टिनी के दो फायरों ने साहब की कपालक्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आये।

बोधा चिल्लाया—'क्या है?'

लहनासिंह ने उसे यह कहकर सुला दिया कि 'एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया' और औरों से सब हाल कह दिया। सब बन्दूकें लेकर तैयार हो गये। लहना ने साफा फाड़ कर घाव के दोनों तरफ पट्टियाँ कसकर बाँधी। घाव माँस में ही था? पटिटयों के कसने से लहू निकलना बन्द हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। सिक्खों की बन्दूकों की बाड़ ने पहले धावे को रोका। दूसरे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहना सिंह तक-तक कर मार रहा था।—वह खड़ा था, और लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुस आते थे। थोड़े से मिनटों में वे .....

अचानक आवाज आयी—'वाह गुरुजी की फतह ! वाह गुरुजी का खालसा ! !' और धड़ाधड़ बन्दूकों के फायर जर्मनों के ऊपर पड़ने लगे। ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गये। पीछे से सूबेदार हजारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछे वालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया।

एक किलकारी और—'अकाल सिक्खों की फौज आयी ! वाह गुरुजी की फतह ! वाह गुरुजी का खालसा ! ! सत श्री अकाल पुरुष ! ! !—" और लड़ाई खतम हो गयी। तिरसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पन्द्रह के प्राण गये। सूबेदार के कन्धे में से गोली आरपार निकल गयी। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को खन्दक की गीली मिट्टी से पूर लिया और बाकी का साफा कसकर कमरबन्द की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना को दूसरा घाव—भारी घाव—लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था, ऐसा चाँद, जिसके प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है। और हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि बाणभट्ट की भाषा में 'दन्तवीणोपदेशाचार्य' कहलाती। वजीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन-मन भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी, जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन और कागजात पाकर वे उसकी तुरन्तबुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता, तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज तीन मील दाहिनी ओर की खाईवालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया था। वहाँ से झटपट दो बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं, जो कोई डेढ़ घंटे के अन्दर आ पहुँची। फील्ड अस्पताल नजदीक था। सुबह होते-होते वहाँ पहुँच जायेंगे, इसलिए मामुली पट्टी बाँधकर एक गाड़ी में घायल लिटाये गये और दूसरी में लाशें रक्खी गयीं। सूबेदार ने लहनासिंह

की जाँघ में पट्टी बँधवानी चाही; पर उसने यह कहकर टाल दिया कि थोड़ा घाव है, सबेरे देखा जायगा। बोधासिंह ज्वर में बर्रा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा—'तुम्हें बोधा की कसम है, और सूबेदारनीजी की सौगन्ध है, जो इस गाड़ी में न चले जाओ।'

'और तुम ?'

'मेरे लिए वहाँ पहुँचकर गाड़ी भेज देना और जर्मन मुरदों के लिए भी तो गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं, मैं खड़ा हूँ ? वजीरासिंह मेरे पास है ही।'

'अच्छा, पर—'

'बोधा गाड़ी पर लेट गया ? भला। आप भी चढ़ जाओ। सुनिये तो, सूबेदारनी होराँ को चिट्ठी लिखो, तो मेरा मत्था टेकना लिख देना। और जब घर जाओ, तो कह देना कि मुझसे जो उसने कहा था, वह मैंने कर दिया।'

गाड़ियाँ चल पड़ीं थीं। सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़कर कहा—'तैंने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं। लिखना कैसा ? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था ?

'अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ, मैंने जो कहा, वह लिख देना, और कह भी देना।'

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया—'वजीरा, पानी पिला दे, और मेरा कमरबन्द खोल दे। तर हो रहा है।'

५

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्मभर की घटनाएँ एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ होते हैं; समय की धुन्ध बिल्कुल उन पर से हट जाती है।

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दहीवाले के यहाँ, सब्जीवाले के यहाँ, हर कहीं, उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है—'तेरी कुड़माई हो गयी?' तब 'धत्' कहकर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा, तो उसने कहा—'हाँ, कल हो गयी, देखते नहीं, यह रेशम के फूलोंवाला सालू ?'—सुनते ही लहनासिंह

का दुःख हुआ । क्रोध हुआ । क्यों हुआ ?

'वजीरासिंह, पानी पिला दे' ।

*   *   *

पचीस वर्ष बीत गये । अब लहनासिंह नं० ७७ रैफल्स में जमादार हो गया है । उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा । न मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं । सात दिन की छुट्टी लेकर जमीन के मुकद्दमे की पैरवी करने वह अपने घर गया । वहाँ रेजिमेंट के अफसर की चिट्ठी मिली कि फौज लाम पर जाती है, फौरन चले आओ । साथ ही सूबेदार हजारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधासिंह भी लाम पर जाते हैं । लौटते हुए हमारे घर होते जाना । साथ ही चलेंगे । सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था, और सूबेदार उसे बहुत चाहता था । लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा ।

जब चलने लगे, तब सूबेदार वेढे* में से निकल कर आया । बोला—'लहना' सूबेदारनी तुझको जानती हैं, बुलाती हैं । जा मिल आ ।'—लहनासिंह भीतर पहुँचा । सूबेदारनी मुझे जानती हैं? कब से ? रेजिमेंट के क्वार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं । दरवाजे पर जाकर 'मत्था टेकना' कहा । असीस सुनी । लहनासिंह चुप ।

'मुझे पहचाना ?'

'नहीं ।'

'तेरी कुड़माई हो गयी—धत्—कल हो गयी—देखते नहीं, रेशमी बूटोंवाला सालू—अमृतसर में—'

भावों की टकराहट से मूर्च्छा खुली । करवट बदली । पसली का घाव बह निकला ।

'वजीरा, पानी पिला'—उसने कहा था ।

*   *   *

स्वप्न चल रहा है । सूबेदारनी कह रही है—'मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया । एक काम कहती हूँ । मेरे तो भाग फूट गये । सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में जमीन दी है, आज नमक-हलाली का मौका आया

---

*जनाने ।

है; पर सरकार ने हम तीमियों* की एक घँघरिया पल्टन क्यों न बना दी, जो मैं भी सूबेदार के साथ चली जाती ? एक बेटा है। फौज में भर्ती हुए उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया।'—सूबेदारनी रोने लगी—'अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग ! तुम्हें याद है, एक दिन टाँगेवाले का घोड़ा दहीवाले की दूकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे। आप घोड़े की लातों में चले गये थे, और मुझे उठाकर दूकान-दार के दख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।'

रोती-रोती सूबेदारनी ओबरी† में चली गयी। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

'वजीरासिंह, पानी पिला'—उसने कहा था।

* * *

लहना का सिर अपनी गोद में रक्खे वजीरासिंह बैठा है। जब माँगता है, तब पानी पिला देता है, आध घण्टे तक लहना चुप रहा, फिर बोला—कौन ! कीरतसिंह ?'

वजीरा ने कुछ समझकर कहा—'हाँ।'

'भइया, मुझे और ऊँचा कर ले। अपने पट्ट‡ पर मेरा सिर रख ले।'

वजीरा ने वैसा ही किया।

'हाँ, अब ठीक है। पानी पिला दे। बस, अब के हाड़§ में यह आम खूब फलेगा। चचा-भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है, उतना ही यह आम है। जिस महीने उसका जन्म हुआ था, उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।'

वजीरासिंह के आँसू टप-टप टपक रहे थे।

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा—'फ्रांस और बेलजियम—६८ वीं सूची—मैदान में घावों से मरा—नं० ७७ सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह।

---

*स्त्रियों। †अन्दर का घर। ‡जाँघ। §आषाढ़।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'

(जन्म १८९१ ई०)



कौशिकजी का जन्म अम्बाला छावनी में एक साधारण स्थिति के कौशिक गोत्रीय आदि गौड़ वंश में हुआ। पिता फौज में स्टोरकीपर थे। जब आपकी अवस्था चार वर्ष की हुई, तब आपके एक बाबा ने, जो कानपुर में वकालत करते थे और निस्संतान थे, आपको अपना दत्तक पुत्र बना लिया। आपने स्कूल में मैट्रिक तक शिक्षा पायी। स्कूल में फ़ारसी और उर्दू पढ़, हिन्दी तथा संस्कृत का ज्ञान घर पर अर्जित किया। उर्दू में 'साबिर' के उपनाम से कविता भी करते थे। इनका हिन्दी में लिखने का क्रम सन् १९११ से आरम्भ हुआ। स्व० महावीर प्रसाद द्विवेदी से जब प्रथम बार भेंट हुई, तो उन्होंने पूछा, 'तुम्हारी रुचि किस ओर है?' उत्तर मिला, 'कहानी-उपन्यास की ओर'; तब उन्होंने कहा, 'तो वही लिखा करो।' सन् १९१२ में 'सरस्वती' में पहली कहानी 'रक्षा-बन्धन' छपी। अब तक आपके पाँच कहानी-संग्रह तथा दो उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। हास्य-रस के कुछ सुन्दर पत्र 'विजयानन्द दुबे' के नाम से आपने लिखे हैं। 'दुबेजी का चिट्ठा' नाम से कुछ पत्रों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है। कौशिकजी एक बँगला उपन्यास तथा एक बँगला नाटक का अनुवाद भी कर चुके हैं। तीन संकलन-ग्रंथ भी हैं।

रक्षा-बन्धन

'माँ, मैं भी राखी बाँधूँगी।'

श्रावण की धूम-धाम है। नगरवासी स्त्री-पुरुष बड़े आनन्द तथा उत्साह से श्रावणी का उत्सव मना रहे हैं। बहनें भाइयों के और ब्राह्मण अपने यजमानों के राखियाँ बाँध-बाँध कर चाँदी कर रहे हैं। ऐसे ही समय एक छोटे से घर में एक दस वर्ष की बालिका ने अपनी माता से कहा—माँ, मैं भी राखी बाँधूँगी।

उत्तर में माता ने एक ठंडी साँस भरी और कहा—किसके बाँधेगी बेटी—आज तेरा भाई होता तो।...

माता आगे कुछ न कह सकी। उसका गला रुँध गया और नेत्र अश्रुपूर्ण हो गये।

अबोध बालिका ने अठलाकर कहा—तो क्या भइया ही के राखी बाँधी जाती है और किसी के नहीं? भइया नहीं है तो अम्मा, मैं तुम्हारे ही राखी बाँधूँगी।

इस दुःख के समय भी पुत्री की बात सुनकर माता मुसकराने लगी और बोली—अरी तू इतनी बड़ी हो गयी—भला कहीं माँ के भी राखी बाँधी जाती है।

बालिका ने कहा—वाह, जो पैसा दे, उसी के राखी बाँधी जाती है।

माता—अरी कँगली! पैसे पर नहीं—भाई ही के राखी बाँधी जाती है।

बालिका उदास हो गयी।

माता घर का काम-काज करने लगी। घर का काम शेष करके उसने पुत्री से कहा—आ तुझे न्हिला (नहला) दूँ।

बालिका मुख गम्भीर करके बोली—मैं नहीं नहाऊँगी।

माता—क्यों, नहावेगी क्यों नहीं?

बालिका—मुझे क्या किसी के राखी बाँधनी है?

माता—अरी राखी नहीं बाँधनी है, तो क्या नहावेगी भी नहीं। आज त्योहार का दिन है। चल उठ नहा।

बालिका—राखी नहीं बाँधूँगी तो निवहार काहे का ?

माता—(कुछ क्रुद्ध होकर) अरी कुछ सिड़न हो गयी है। राखी-राखी रट लगा रक्खी है। बड़ी राखी बाँधने वाली बनी है। ऐसी ही होती तो आज यह दिन देखना पड़ता। पैदा होते ही बाप को खा बैठी। ढाई बरस की होते-होते भाई से घर छुड़ा दिया। तेरे ही कर्मों से सब नास (नाश) हो गया।

बालिका बड़ी अशान्त हुई और आँखों में आँसू भरे हुए चुपचाप नहाने को उठ खड़ी हुई।

* * *

एक घंटा पश्चात् हम उसी बालिका को उसके घर के द्वार पर खड़ी देखते हैं। इस समय भी उसके सुन्दर मुख पर उदासी विद्यमान है। अब भी उसके बड़े-बड़े नेत्रों में पानी छलछला रहा है।

परन्तु बालिका इस समय द्वार पर क्यों ? जान पड़ता है, वह किसी कार्यवश खड़ी है, क्योंकि उसके द्वार के सामने से जब कोई निकलता है, तब वह बड़ी उत्सुकता से उसकी ओर ताकने लगती है। मानो वह मुख से कुछ कहे बिना केवल इच्छा-शक्ति ही से, उस पुरुष का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा करती हो; परन्तु जब उसे इसमें सफलता नहीं होती, तब उसकी उदासी बढ़ जाती है।

इसी प्रकार एक, दो, तीन करके कई पुरुष, बिना उसकी ओर देखे, निकल गये।

अन्त को बालिका निराश होकर घर के भीतर लौट जाने को उद्यत ही हुई थी कि एक सुन्दर युवक की दृष्टि, जो कुछ सोचता हुआ धीरे-धीरे जा रहा था, बालिका पर पड़ी। बालिका की आँखें युवक की आँखों से जा लगीं। न जाने उन उदास तथा करुणा-पूर्ण नेत्रों में क्या जादू भरा था कि युवक ठिठक कर खड़ा हो गया और बड़े ध्यान से सिर से पैर तक देखने लगा। ध्यान से देखने पर यवक को ज्ञात हुआ कि बालिका की आँखें अश्रुपूर्ण हैं। तब वह अधीर हो उठा। निकट जाकर पूछा—बेटी क्यों रोती हो ?

बालिका इसका कुछ उत्तर न दे सकी; परन्तु उसने अपना एक हाथ युवक की ओर बढ़ा दिया। युवक ने देखा, बालिका के हाथ में एक लाल डोरा है। उसने पूछा—यह क्या है ? बालिका ने आँखें नीची करके उत्तर दिया—राखी ! युवक

समझ गया। उसने मुस्कराकर अपना दाहिना हाथ आगे बढ़ा दिया।

बालिका का मुख-कमल खिल उठा। उसने बड़े चाव से युवक के हाथ में राखी बाँध दी।

राखी बँधवा चुकने पर युवक ने जेब में हाथ डाला और दो रुपये निकाल कर बालिका को देने लगा; परन्तु बालिका ने उन्हें लेना स्वीकार न किया। बोली—नहीं, पैसे दो।

युवक—ये पैसे से भी अच्छे हैं।

बालिका—नहीं—मैं पैसे लूँगी, यह नहीं।

युवक—ले लो बिटिया। इसके पैसे मँगा लेना।

बालिका—नहीं, पैसे दो।

युवक ने चार आने पैसे निकालकर कहा—अच्छा ले पैसे भी ले और यह भी ले।

बालिका—नहीं, खाली पैसे लूँगी।

तुझे दोनों लेने पड़ेंगे—यह कह कर युवक ने बलपूर्वक पैसे तथा रुपये बालिका के हाथ पर रख दिये।

इतने में घर के भीतर से किसी ने पुकारा—अरी सरसुनी (सरस्वती) कहाँ गयी ?

बालिका ने—आयी—कहकर युवक की ओर कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि डाली और चली गयी।

२

गोलागंज (लखनऊ) की एक बड़ी तथा सुन्दर अट्टालिका के एक सुसज्जित कमरे में एक युवक चिंता-सागर में निमग्न बैठा है। कभी वह ठण्डी साँसें भरता है, कभी रूमाल से आँखें पोंछता है, कभी आप-ही-आप कहता है—हा ! सारा परिश्रम व्यर्थ गया। सारी चेष्टाएँ निष्फल हुईं। क्या करूँ। कहाँ जाऊँ, उन्हें कहाँ ढूँढूँ। सारा उन्नाव छान डाला; परन्तु फिर भी पता न लगा।—युवक आगे कुछ और कहने को था कि कमरे का द्वार धीरे-धीरे खुला और एक नौकर अन्दर आया।

युवक ने कुछ विरक्त होकर पूछा—क्यों, क्या है ?

नौकर—सरकार अमरनाथ बाबू आये हैं।

युवक—(सँभलकर) अच्छा यहीं भेज दो।

नौकर के चले जाने पर युवक ने रूमाल से आँखें पोंछ डालीं और मुख पर गम्भीरता लाने की चेष्टा करने लगा।

द्वार फिर खुला और एक युवक अन्दर आया।

युवक—आओ भाई अमरनाथ !

अमरनाथ—कहो घनश्याम, आज अकेले कैसे बैठे हो ? कानपुर से कब लौटे ?

घनश्याम—कल आया था।

अमरनाथ—उन्नाव भी अवश्य ही उतरे होंगे ?

घनश्याम—(एक ठण्डी साँस भरकर) हाँ उतरा था; परन्तु व्यर्थ। वहाँ अब मेरा क्या रखा है ?

अमरनाथ—परन्तु करो क्या। हृदय नहीं मानता है—क्यों ? और सच पूछो तो बात ही ऐसी है। यदि तुम्हारे स्थान पर मैं होता, तो मैं भी ऐसा ही करता।

घनश्याम—क्या कहूँ मित्र, मैं तो हार गया। तुम तो जानते ही हो कि मुझे लखनऊ आकर रहे एक वर्ष हो गया और जब से यहाँ आया हूँ उन्हें ढूँढ़ने में कुछ भी कसर उठा नहीं रखी; परन्तु सब व्यर्थ।

अमरनाथ—उन्होंने उन्नाव न जाने क्यों छोड़ दिया और कब छोड़ा—इसका भी कोई पता नहीं चलता।

घनश्याम—इसका तो पता चल गया न, कि वे लोग मेरे चले जाने के एक वर्ष पश्चात् उन्नाव से चले गये; परन्तु कहाँ गये, यह नहीं मालूम।

अमरनाथ—यह किससे मालूम हुआ ?

घनश्याम—उसी मकान वाले से, जिसके मकान में हम लोग रहते थे।

अमरनाथ—हा शोक !

घनश्याम—कुछ नहीं, यह सब मेरे ही कर्मों का फल है। यदि मैं उन्हें छोड़कर जाता; यदि गया था, तो उनकी खोज-खबर लेता रहता। परन्तु मैं तो दक्षिण जाकर रुपया कमाने में इतना व्यस्त रहा कि कभी याद ही न आयी। और जो आयी भी, तो क्षणमात्र के लिए। उफ, कोई भी अपने घर को भूल जाता है। मैं ही ऐसा अधम—

अमरनाथ—(बात काटकर) अजी नहीं, सब समय की बात है।

घनश्याम—मैं दक्षिण न जाता, तो अच्छा था ।

अमरनाथ—तुम्हारा दक्षिण जाना तो व्यर्थ नहीं हुआ। यदि न जाते तो इतना धन...।

घनश्याम—अजी चूल्हे में जाय धन । ऐसा धन किस काम का । मेरे हृदय में सुख-शान्ति नहीं तो धन किस मर्ज की दवा है ।

अमरनाथ—ऐं, यह हाथ में लाल डोरा क्यों बाँधा है?

घनश्याम—इसकी तो बात ही भूल गया । यह राखी है ।

अमरनाथ—भई वाह, अच्छी राखी है । लाल डोरे को राखी बताते हो । यह किसने बाँधी है। किसी बड़े कन्जूस ब्राह्मण ने बाँधी होगी। दुष्ट ने एक पैसा तक खरचना पाप समझा । डोरे ही से काम निकाला ।

घनश्याम—संसार में यदि कोई बढ़िया-से-बढ़िया राखी बन सकती है तो मुझे उससे भी कहीं अधिक प्यारा यह लाल डोरा है ।—यह कह कर घनश्याम ने उसे खोलकर बड़े यत्नपूर्वक अपने बक्स में रख लिया ।

अमरनाथ—भई तुम भी विचित्र मनुष्य हो । आखिर यह डोरा बाँधा किसने है ?

घनश्याम—एक बालिका ने ।

पाठक समझ गये होंगे कि घनश्याम कौन है ।

अमरनाथ—बालिका ने कैसे बाँधा और कहाँ ?

घनश्याम—कानपुर में ।

घनश्याम ने सारी घटना कह सुनायी ।

अमरनाथ—यदि यह बात है, तो सत्य ही यह डोरा अमूल्य है ।

घनश्याम—न जाने क्यों, उस बालिका का ध्यान मेरे मन से नहीं उतरता ।

अमरनाथ—उसकी सरलता तथा प्रेम ने तुम्हारे हृदय पर प्रभाव डाला है । भला उसका नाम क्या है ?

घनश्याम—नाम तो मुझे नहीं मालूम । भीतर से किसी ने उसका नाम लेकर पुकारा था; परन्तु मैं सुन न सका ।

अमरनाथ—अच्छा, खैर । अब तुमने क्या करना विचारा है ?

घनश्याम—धैर्य धर कर चुपचाप बैठने के अतिरिक्त और मैं कर ही क्या सकता हूँ । मुझसे जो हो सका, मैं कर चुका ।

अमरनाथ—हाँ, यही ठीक भी है। ईश्वर पर छोड़ दो! देखो क्या होता है।

३

पूर्वोक्त घटना हुए पाँच वर्ष व्यतीत हो गये। घनश्यामदास पिछली बातें प्रायः भूल गये हैं, परन्तु उस बालिका की याद कभी-कभी आ जाती है। उसे देखने वे एक बार कानपुर गये भी थे; परन्तु उसका पता न चला। उस घर में पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह वहाँ से, अपनी माता सहित, बहुत दिन हुए, न जाने कहाँ चली गयी। इसके पश्चात् ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, उसका ध्यान भी कम होता गया; पर अब भी जब वे अपना बक्स खोलते हैं, तब कोई वस्तु देख कर चौंक पड़ते हैं और साथ ही कोई पुराना दृश्य भी आँखों के सामने आ जाता है।

घनश्याम अभी तक अविवाहित है। पहले तो उन्होंने निश्चय कर लिया था कि विवाह करेंगे ही नहीं; पर मित्रों के कहने और स्वयं अपने अनुभव ने उनका विचार बदल दिया। अब वे विवाह करने पर तैयार है; परन्तु अभी तक कोई कन्या उनकी रुचि के अनुसार नहीं मिली!

जेठ का महीना है। दिन-भर की जला देने वाली धूप के पश्चात् सूर्यास्त का समय अत्यन्त सुखदायी प्रतीत हो रहा है। इस समय घनश्यामदास अपनी कोठी के बाग में मित्रों सहित बैठे मन्द-मन्द शीतल वायु का आनन्द ले रहे हैं। आपस में हास्यरसपूर्ण बातें हो रही हैं। बातें करते-करते एक मित्र ने कहा—अजी अभी तक अमरनाथ नहीं आये?

घनश्याम—वह मनमौजी आदमी है। कहीं रम गया होगा।

दूसरा—नहीं रम नहीं, वह आजकल तुम्हारे लिए दुल्हन ढूँढ़ने की चिन्ता में रहता है।

घनश्याम—बड़े दिल्लगी बाज हो।

दूसरा—नहीं, दिल्लगी की बात नहीं है।

तीसरा—हाँ, परसों मुझसे भी वह कहता था कि घनश्याम का विवाह हो जाय, तो मुझे चैन पड़े।

ये बातें हो ही रही थीं कि अमरनाथ लपकते हुए आ पहुँचे।

घनश्याम—आओ यार, बड़ी उमर—अभी तुम्हारी ही याद हो रही थी।

अमरनाथ—इस समय बोलिए नहीं, नहीं एकाध को मार बैठूँगा।

दूसरा—जान पड़ता है, कहीं से पिट कर आये हो।

अमरनाथ—तू फिर बोला—क्यों ?

दूसरा—क्यों, बोलना किसी के हाथ क्या बेच खाया है ?

अमरनाथ—अच्छा, दिल्लगी छोड़ो। एक आवश्यक बात है।

सब उत्सुक होकर बोले—कहो, कहो, क्या बात है ?

अमरनाथ—(घनश्याम से) तुम्हारे लिए दुलहन ढूँढ़ ली है।

सब—(एक स्वर से) फिर क्या, तुम्हारी चाँदी है।

अमरनाथ—फिर वही दिल्लगी। यार तुम लोग अजीब आदमी हो !

तीसरा—अच्छा बताओ, कहाँ ढूँढ़ी ?

अमरनाथ—यहीं, लखनऊ में।

दूसरा—लड़की का पिता क्या करता है ?

अमरनाथ—पिता तो स्वर्गवास करता है।

तीसरा—यह बुरी बात है।

अमरनाथ—लड़की है और उसकी माँ। बस, तीसरा कोई नहीं। विवाह में कुछ मिलेगा भी नहीं। लड़की की माता गरीब है।

दूसरा—यह उससे भी बुरी बात है।

तीसरा—उल्लू मर गये; पट्ठे छोड़ गये। घर भी ढूँढा तो गरीब। कहाँ हमारे घनश्याम इतने धनाढ्य और कहाँ ससुराल इतनी दरिद्र ! लोग क्या कहेंगे ?

अमरनाथ—अरे भाई, कहने और न कहने वाले हमीं तुम हैं। और वहाँ [redacted] कौन बैठा है जो कहेगा।

घनश्यामदास ने एक ठण्डी साँस ली।

तीसरा—आपने क्या भलाई देखी, जो यह सम्बन्ध करना विचारा है ?

अमरनाथ—लड़की की भलाई। लड़की लक्ष्मी-रूपा है। जैसी सुन्दर वैसी ही सरल। ऐसी लड़की यदि दीपक लेकर ढूँढी जाय, तो भी कदाचित् ही मिले।

दूसरा—हाँ, यह अवश्य एक बात है।

अमरनाथ—परन्तु लड़की की माता लड़का देखकर विवाह करने को कहती है।

तीसरा—यह तो व्यवहार की बात है।

घनश्याम—और, मैं भी लड़की देखकर विवाह करूँगा।

दूसरा—यह भी ठीक ही है।

प्रेमचन्द

(जन्म—१८८०, मृत्यु—१९३६ ई०)



प्रेमचन्दजी का जन्म जिला बनारस में हुआ था। पिता डाकखाने में क्लर्क थे। इनकी अवस्था जब ५-६ वर्ष की थी, तभी माता का देहांत हो गया। १४ वर्ष की अवस्था में पिता का भी देहांत हो गया। दसवाँ दर्जा पास करने के बाद एक स्कूल में १८ रु० मासिक पर अध्यापक हो गये। प्राइवेट इम्तहान देकर बी० ए० पास किया। उन्नति करते-करते स्कूलों के सब डिप्टी इंस्पेक्टर हो गये। कहानियाँ और उपन्यास पढ़ने का चाव स्कूली जीवन से ही था। आप की पहली कहानी १९०७ में "संसार का सबसे अनमोल रत्न" उर्दू के "जमाना' में छपी। प्रारंभिक कहानियों में स्वदेश-प्रेम की महिमा गायी गयी थी, इससे अधिकारी-वर्ग के कोप-भाजन भी हुए। हिन्दी में पहली कहानी १९१६ में 'सरस्वती' में छपी। १९१९ के असहयोग-आन्दोलन के समय सरकारी नौकरी आपने त्याग दी। आपने २५०-३०० कहानियाँ और लगभग एक दर्जन उपन्यास लिखे हैं। कथा-साहित्य में युगांतर उपस्थित करने का श्रेय आपको ही है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के उन्नायकों में आपका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

नशा

ईश्वरी एक बड़े जमींदार का लड़का था और मैं एक गरीब क्लर्क का, जिसके पास मेहनत-मजूरी के सिवा और कोई जायदाद न थी। हम दोनों में परस्पर बहसें होती रहती थीं। मैं जमींदारों की बुराई करता, उन्हें हिंसक, पशु और खून चूसने वाली जोंक और वृक्षों की चोटी पर फूलने वाला बंझा कहता। वह जमींदारों का पक्ष लेता; पर स्वभावतः उसका पहलू कुछ कमजोर होता था; क्योंकि उसके पास जमींदारों के अनुकूल कोई दलील न थी। यह कहना कि सभी मनुष्य बराबर नहीं होते, छोटे-बड़े हमेशा होते रहे हैं और होते रहेंगे, लचर दलील थी। किसी मानुषीय या नैतिक नियम से इस व्यवस्था का औचित्य सिद्ध करना कठिन था। मैं इस वाद-विवाद की गर्मा-गर्मी में अक्सर तेज हो जाता और लगने वाली बातें कह जाता; लेकिन ईश्वरी हारकर भी मुस्कराता रहता था। मैंने उसे कभी रोते नहीं देखा। शायद इसका कारण यह था कि वह अपने पक्ष की कमजोरी को समझता था। नौकरों से वह सीधे मुँह बात न करता था। अमीरों में जो एक बेदर्दी और उद्दण्डता होती है, उसमें उसे भी प्रचुर भाग मिला था। नौकर ने बिस्तर लगाने में जरा भी देर की, दूध जरूरत से ज्यादा गर्म या ठंडा हुआ, साइकिल अच्छी तरह साफ नहीं हुई, तो वह आपे से बाहर हो जाता। सुस्ती या बदतमीजी उसे जरा भी बर्दाश्त न थी; पर दोस्तों से और विशेषकर मुझसे उसका व्यवहार सौहार्द और नम्रता से भरा होता था। शायद उसकी जगह मैं होता, तो मुझमें भी वही कठोरताएँ पैदा हो जातीं, जो उसमें थीं; क्योंकि मेरा लोक-प्रेम सिद्धान्तों पर नहीं, निजी दशाओं पर टिका हुआ था, लेकिन वह मेरी जगह होकर भी शायद अमीर ही रहता; क्योंकि वह प्रकृति से ही विलासी और ऐश्वर्य-प्रिय था।

अब की दशहरे की छुट्टियों में मैंने निश्चय किया कि घर न जाऊँगा। मेरे पास किराये के लिए रुपये न थे और न मैं घर वालों को तकलीफ देना चाहता था। मैं जानता हूँ, वे मुझे जो कुछ देते हैं, वह उनकी हैसियत से बहुत ज्यादा है। इसके साथ ही परीक्षा का भी खयाल था। अभी बहुत कुछ पढ़ना बाकी था और घर जाकर कौन पढ़ता है। बोर्डिंग हाउस में भूत की तरह अकेले पड़े रहने को भी जी

न चाहता था; इसलिए जब ईश्वरी ने मुझे अपने घर चलने का नेवता दिया, तो मैं बिना आग्रह के ही राजी हो गया। ईश्वरी के साथ परीक्षा की तैयारी खूब हो जायगी। वह अमीर होकर भी मेहनती और जहीन है।

उसने इसके साथ ही कहा—लेकिन भाई, एक बात का खयाल रखना। वहाँ अगर जमींदारों की निन्दा की, तो मुआमला बिगड़ जायगा और मेरे घरवालों को बुरा लगेगा। वह लोग तो असामियों पर इसी दावे से शासन करते हैं कि ईश्वर ने असामियों को उनकी सेवा के लिए ही पैदा किया है। असामी भी यही समझता है। अगर उसे सुझा दिया जाय कि जमींदार और असामी में कोई मौलिक भेद नहीं है, तो जमींदारों का कहीं पता न लगे।

मैंने कहा—तो क्या तुम समझते हो कि वहाँ जाकर कुछ और हो जाऊँगा?

'हूँ, मैं तो यही समझता हूँ।'

'तो तुम गलत समझते हो।'

ईश्वरी ने इसका कोई जवाब न दिया, कदाचित् उसने इस मुआमले को मेरे विवेक पर छोड़ दिया और बहुत अच्छा किया। अगर वह अपनी बात पर अड़ता, तो मैं भी जिद पकड़ लेता।

२

सेकेण्ड क्लास तो क्या, मैंने कभी इण्टर क्लास में भी सफर न किया था। अब की सेकेण्ड क्लास में सफर करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। गाड़ी तो नौ बजे रात को आती थी; पर यात्रा के हर्ष में हम शाम को ही स्टेशन जा पहुँचे। कुछ देर इधर-उधर सैर करने के बाद रिफ्रेशमेंट रूम में जा कर हम लोगों ने भोजन किया। मेरी वेश-भूषा और रंग-ढंग से पारखी खानसामाओं को यह पहचानने में देर न लगी, कि मालिक कौन है और पिछलग्गू कौन, लेकिन न जाने क्यों मुझे उनकी गुस्ताखी बुरी लग रही थी। पैसे ईश्वरी के जेब से गये। शायद मेरे पिता को जो वेतन मिलता है, उससे ज्यादा इन खानसामाओं को इनाम-इकराम में मिल जाता है। एक अठन्नी तो चलते समय ईश्वरी ही ने दी। फिर भी मैं उन सभी से उसी तत्परता और विनय की प्रतीक्षा करता था, जिससे वे ईश्वरी की सेवा कर रहे थे! क्यों ईश्वरी के हुक्म पर सब-के-सब दौड़ते हैं; लेकिन मैं चीज माँगता हूँ, तो उतना उत्साह नहीं दिखाते, मुझे भोजन में कुछ स्वाद न मिला।

यह भेद मेरे ध्यान को सम्पूर्ण रूप से अपनी ओर खींचे हुए था।

गाड़ी आयी, हम दोनों सवार हुए, खानसामाओं ने ईश्वरी को सलाम किया। मेरी ओर देखा भी नहीं।

ईश्वरी ने कहा—कितने तमीजदार है ये सब। एक हमारे नौकर है कि कोई काम करने का ढंग नहीं।

मैंने खट्टे मन से कहा—इसी तरह अगर तुम अपने नौकरों को भी आठ आने रोज इनाम दिया करो, तो शायद इससे ज्यादा तमीजदार हो जायँ।

'तो क्या तुम समझते हो, यह सब केवल इनाम के लालच से इतना अदब करते है?'

'जी नहीं, कदापि नहीं, तमीज और अदब तो इनके रक्त में मिल गया है!'

गाड़ी चली। डाक थी। प्रयाग से चली, तो परतापगढ़ जाकर रुकी। एक आदमी ने हमारा कमरा खोला। मैं तुरन्त चिल्ला उठा—दूसरा दरजा है—सेकेण्ड क्लास है।

उस मुसाफिर ने डब्बे के अन्दर आकर मेरी ओर एक विचित्र उपेक्षा की दृष्टि से देखकर कहा—जी हाँ, सेवक भी इतना समझता है।—और बीच वाले बर्थ पर बैठ गया। मुझे कितनी लज्जा आयी, कह नहीं सकता। भोर होते-होते हम लोग मुरादाबाद पहुँचे। स्टेशन पर कई आदमी हमारा स्वागत करने के लिए खड़े थे। दो भद्र पुरुष थे। पाँच बेगार। बेगारों ने हमारा लगेज उठाया। दोनों भद्र पुरुष पीछे-पीछे चले। एक मुसलमान था, रियासतअली; दूसरा ब्राह्मण था, रामहरख। दोनों ने मेरी ओर अपरिचित नेत्रों से देखा, मानो कह रहे हों, तुम कौवे होकर हंस के साथ कैसे?

रियासतअली ने ईश्वरी से पूछा—यह बाबू साहब क्या आपके साथ पढ़ते हैं?

ईश्वरी ने जवाब दिया—हाँ, साथ पढ़ते भी है, और साथ रहते भी है। यों कहिए कि आप ही की बदौलत मैं इलाहाबाद मे पड़ा हुआ हूँ, नहीं कब का लखनऊ चला आया होता। अब की मैं इन्हें घसीट लाया। इनके घर से कई तार आ चुके थे; मगर मैंने इंकारी जवाब दिलवा दिये। आखिरी तार अर्जेण्ट था, जिसकी फीस चार आने प्रति शब्द है; पर यहाँ से भी उसका जवाब इंकारी ही गया।

दोनों सज्जनों ने मेरी ओर चकित नेत्रों से देखा। आतंकित हो जाने की चेष्टा

करते हुए जान पड़े ।

रियासतअली ने अर्द्धशंका के स्वर में कहा—लेकिन आप बड़े सादे लिबास में रहते हैं ।

ईश्वरी ने शंका निवारण की—महात्मा गांधी के भक्त हैं साहब ! खद्दर के सिवा कुछ पहनते ही नहीं । पुराने सारे कपड़े जला डाले । यों कहो कि राजा हैं । ढाई लाख सालाना की रियासत है; पर आपकी सूरत देखो, तो मालूम होता है, अभी अनाथालय से पकड़ कर आये ।

रामहरख बोले—अमीरों का ऐसा स्वभाव बहुत कम देखने में आता है । कोई भाँप ही नहीं सकता ।

रियासतअली ने समर्थन किया—आपने महाराजा चाँगली को देखा होता, तो दाँतों उँगली दबाते । एक गाढ़े की मिर्जई और चमरौधे जूते पहने बाजारों में घूमा करते थे । सुनते हैं, एक बार बेगार में पकड़े गये थे और उन्हीं ने दस लाख से कालेज खोल दिया ।

मैं मन में कटा जा रहा था; पर न जाने क्या बात थी कि यह सफेद झूठ उस वक्त मुझे हास्यास्पद न जान पड़ा। उसके प्रत्येक वाक्य के साथ मानो मैं उस कल्पित वैभव के समीपतर आता जाता था ।

मैं शहसवार नहीं हूँ । हाँ, लड़कपन में कई बार लद्दू घोड़ों पर सवार हुआ हूँ । यहाँ देखा, तो दो कलाँ-रास घोड़े हमारे लिए तैयार खड़े थे । मेरी तो जान ही निकल गयी । सवार तो हुआ; पर बोटियाँ काँप रही थीं, मैंने चेहरे पर शिकन न पड़ने दिया । घोड़े को ईश्वरी के पीछे डाल दिया । खैरियत यह हुई कि ईश्वरी ने घोड़े को तेज न किया, वरना शायद हाथ-पाँव तुड़वाकर लौटता । सम्भव है, ईश्वरी ने समझ लिया हो कि यह कितने पानी में है ।

३

ईश्वरी का घर क्या था, किला था । इमामबाड़े [illegible], द्वार पर पहरेदार टहलता हुआ, नौकरों का कोई हिसाब नहीं, एक हाथी बँधा हुआ । ईश्वरी ने अपने पिता, चाचा, ताऊ आदि सबसे मेरा परिचय कराया और उसी अतिशयोक्ति के साथ । ऐसी हवा बाँधी कि कुछ न पूछिए । नौकर-चाकर ही नहीं, घर के लोग भी मेरा सम्मान करने लगे । देहात के जमींदार, लाखों का मुनाफा; मगर पुलिस कान्स्टेबिल को भी अफसर समझने वाले । कई महाशय तो मुझे हुजूर-

हुजूर कहने लगे।

जब जरा एकान्त हुआ, तो मैंने ईश्वरी से कहा—तुम बड़े शैतान हो यार, मेरी मिट्टी क्यों पलीद कर रहे हो।

ईश्वरी ने सुदृढ़ मुस्कान के साथ कहा—इन गधों के सामने यही चाल जरूरी थी; वरना सीधे मुँह बोलते भी नहीं।

जरा देर बाद एक नाई हमारे पाँव दबाने आया। कुँवर लोग स्टेशन से आये हैं, थक गये होंगे। ईश्वरी ने मेरी ओर इशारा करके कहा—पहले कुँवर साहब के पाँव दबा।

मैं चारपाई पर लेटा हुआ था। जीवन में ऐसा शायद ही कभी हुआ हो कि किसी ने मेरे पाँव दबाये हों। मैं इसे अमीरों के चोंचले, रईसों का गधापन और बड़े आदमियों की मुटमरदी और जाने क्या-क्या कहकर ईश्वरी का परिहास किया करता और आज मैं पोतड़ों का रईस बनने का स्वाँग भर रहा था।

इतने में दस बज गये। पुरानी सभ्यता के लोग थे। नयी रोशनी अभी केवल पहाड़ की चोटी तक पहुँच पायी थी। अन्दर से भोजन का बुलावा आया। हम स्नान करने चले। मैं हमेशा अपनी धोती खुद छाँट लिया करता हूँ, मगर यहाँ मैंने ईश्वरी की ही भाँति अपनी धोती भी छोड़ दी। अपने हाथों अपनी धोती छाँटते बड़ी शर्म आ रही थी। अन्दर भोजन करने चले। होस्टल में जूते पहने मेज पर जा डटते थे। यहाँ पाँव धोना आवश्यक था। कहार पानी लिये खड़ा था। ईश्वरी ने पाँव बढ़ा दिये। कहार ने उसके पाँव धोये। मैंने भी पाँव बढ़ा दिये। कहार ने मेरे पाँव भी धोये। मेरा वह विचार न जाने कहाँ चला गया था।

४

सोचा था वहाँ देहात में एकाग्र होकर खूब पढ़ेंगे; पर यहाँ सारा दिन सैर-सपाटे में कट जाता था। कहीं नदी में बजरे पर सैर कर रहे हैं, कहीं मछलियों या चिड़ियों का शिकार खेल रहे हैं, कहीं पहलवानों की कुश्ती देख रहे हैं, कहीं शतरंज पर जमे हैं। ईश्वरी खूब अण्डे मँगवाता और कमरे में 'स्टोव' पर आमलेट बनते। नौकरों का एक जत्था हमेशा घेरे रहता। अपने हाथ-पाँव को हिलाने की कोई जरूरत नहीं, केवल जबान हिला देना काफी है। नहाने बैठे, तो आदमी नहलाने को हाजिर, लेटे तो दो आदमी पंखा झलने को खड़े। मैं महात्मा गांधी का कुँवर चेला मशहूर था। भीतर से बाहर तक मेरी धाक थी। नाश्ते में जरा भी देर न

होने पाये, कहीं कुँवर साहब नाराज न हो जायँ। बिछावन ठीक समय पर लग जाय, कुँवर साहब के सोने का समय आ गया। मैं ईश्वरी से भी ज्यादा नाजुक दिमाग बन गया था, या बनने पर मजबूर किया गया था। ईश्वरी अपने हाथ से बिस्तर बिछा ले, लेकिन कुँवर मेहमान अपने हाथों कैसे अपने बिछावन बिछा सकते। उनकी महानता में बट्टा लग जायगा।

एक दिन सचमुच यही बात हो गयी। ईश्वरी घर में थे, शायद अपनी माता से कुछ बात-चीत करने में देर हो गयी। यहाँ दस बज गये। मेरी आँखें नींद से झपक रही थी; मगर बिस्तर कैसे लगाऊँ। कुँवर जो ठहरा। कोई साड़े ग्यारह बजे महरा आया। बड़ा मुँह-लगा नौकर था। घर के धंधों में मेरा बिस्तर लगाने की उसे सुधि ही न रही। अब जो याद आयी, तो भागा हुआ आया। मैंने ऐसी डाँट बतायी कि उसने भी याद किया होगा।

ईश्वरी मेरी डाँट सुनकर बाहर निकल आया और बोला—तुमने बहुत अच्छा किया। यह सब हरामखोर इसी व्यवहार के योग्य हैं।

इसी तरह ईश्वरी एक दिन एक जगह दावत में गया हुआ था। शाम हो गयी; मगर लैम्प न जला। लैम्प मेज पर रक्खा था। दियासलाई भी वहीं थी, लेकिन ईश्वरी खुद कभी लैम्प नहीं जलाता। फिर कुँवर साहब कैसे जलायें? मैं झुँझला रहा था। समाचार-पत्र आया रक्खा हुआ था। जी उधर लगा हुआ था; पर लैम्प नदारद। दैवयोग से उसी वक्त मुंशी रियासतअली आ निकले। मैं उन्हीं पर उबल पड़ा। ऐसी फटकार बतायी कि बेचारा उल्लू हो गया—तुम लोगों को इतनी फिक्र भी नहीं कि लैम्प तो जलवा दो! मालूम नहीं, ऐसे कामचोर आदमियों का यहाँ कैसे गुजर होता है। मेरे यहाँ घंटे भर निर्वाह न हो। रियासतअली ने काँपते हुए हाथों से लैम्प जला दिया।

वहाँ एक ठाकुर अक्सर आया करता था। कुछ मनचला आदमी था, महात्मा गाँधी का परम भक्त। मुझे महात्माजी का चेला समझकर मेरा बड़ा लिहाज करता था; पर मुझसे कुछ पूछते संकोच करता था। एक दिन मुझे अकेला देखकर आया और हाथ बाँधकर बोला—सरकार तो गाँधी बाबा के चेले हैं न? लोग कहते है कि यहाँ सुराज हो जायगा, तो जमींदार न रहेंगे।

मैंने शान जमायी। जमींदारों के रहने की जरूरत ही क्या है? यह लोग गरीबों का खून चूसने के सिवा और क्या करते है।

ठाकुर ने फिर पूछा—तो क्यों सरकार, सब जमींदारों की जमीन छिन जायगी ?

मैंने कहा—बहुत-से लोग तो खुशी से दे देंगे। जो लोग खुशी से न देंगे, उनकी जमीन छीननी ही पड़ेगी। हम लोग तो तैयार बैठे हुए हैं। ज्योंही स्वराज्य हुआ, अपने सारे इलाके असामियों के नाम हिबा कर देंगे।

मैं कुर्सी पर पाँव लटकाये बैठा था। ठाकुर मेरे पाँव दबाने लगा। फिर बोला—आजकल जमींदार लोग बड़ा जुलुम करते हैं सरकार! हमें भी हजूर अपने इलाके में थोड़ी-सी जमीन दे दें, तो चलकर वहीं आपकी सेवा में रहें।

मैंने कहा—अभी तो मेरा कोई अख्तियार नहीं है भाई, लेकिन ज्योंही अख्तियार मिला, मैं सब से पहले तुम्हें बुलाऊँगा। तुम्हें मोटर ड्राइवरी सिखा कर अपना ड्राइवर बना लूँगा।

सुना, उस दिन ठाकुर ने खूब भंग पी और अपनी स्त्री को खूब पीटा और गाँव के महाजन से लड़ने पर तैयार हो गया।

५

छुट्टी इस तरह समाप्त हुई और हम फिर प्रयाग चले। गाँव के बहुत-से लोग हम लोगों को पहुँचाने आये। ठाकुर तो हमारे साथ स्टेशन तक आया। मैंने भी अपना पार्ट खूब सफाई से खेला और अपनी कुबेरोचित विनय और देवत्व की मुहर हरेक हृदय पर लगा दी। जी तो चाहता था हरेक नौकर को अच्छा इनाम दूँ; लेकिन वह सामर्थ्य कहाँ थी? वापसी टिकट था ही, केवल गाड़ी में बैठना था। पर गाड़ी आयी, तो ठसाठस भरी हुई। दुर्गापूजा की छुट्टियाँ भोग कर सभी लौट रहे थे। सेकेण्ड क्लास में तिल रखने की जगह नहीं। इण्टर क्लास की हालत [illegible]। यह आखिरी गाड़ी थी। किसी तरह रुक न सकते थे। बड़ी मुश्किल से तीसरे दरजे में जगह मिली। हमारे ऐश्वर्य ने वहाँ अपना रंग जमा लिया; मगर मुझे उसमें बैठना बुरा लग रहा था। आये थे आराम से लेटे-लेटे, जा रहे थे सिकुड़े हुए। पहलू बदलने की भी जगह न थी।

कई आदमी पढ़े-लिखे भी थे। आपस में अँगरेजी राज्य की तारीफ करते जा रहे थे। एक महाशय बोले—ऐसा न्याय तो किसी राज्य में नहीं देखा। छोटे-बड़े सब बराबर। राजा भी किसी पर अन्याय करे, तो अदालत उसकी भी गर्दन दबा देती है।

दूसरे सज्जन ने समर्थन किया—अरे साहब, आप खुद बादशाह पर दावा कर सकते हैं। अदालत में बादशाह पर भी डिग्री हो जाती है।

एक आदमी, जिसकी पीठ पर बड़ा-सा गट्ठर बँधा था, कलकत्ते जा रहा था। कहीं गठरी रखने की जगह न मिलती थी। पीठ पर बाँधे हुए था। इससे बेचैन होकर बार-बार द्वार पर खड़ा हो जाता। मैं द्वार के पास ही बैठा हुआ था। उसका बार-बार आकर मेरे मुँह को अपनी गठरी से रगड़ना मुझे बहुत बुरा लग रहा था। एक तो हवा ही कम थी, दूसरे उस गँवार का आकर मेरे मुँह पर खड़ा हो जाना, मानो मेरा गला दबाना था। मैं कुछ देर तक जब्त किये बैठा रहा। एकाएक मुझे क्रोध आ गया। मैंने उसे पकड़कर पीछे ढकेल दिया और तमाचे जोर-जोर से लगाये।

उसने आँखें निकाल कर कहा—क्यों मारते हो बाबूजी, हमने भी किराया दिया है।

मैंने उठकर दो-तीन तमाचे और ज़ड़ दिये।

गाड़ी में तूफान आ गया। चारों ओर से मुझ पर बौछार पड़ने लगी।

'अगर इतने नाजुक मिजाज हो, तो अव्वल दर्जे में क्यों नहीं बैठे?'

'कोई बड़ा आदमी होगा, तो अपने घर का होगा, मुझे इस तरह मारते, तो दिखा देता।'

'क्या कसूर किया था बेचारे ने। गाड़ी में साँस लेने की जगह नहीं, खिड़की पर जरा साँस लेने खड़ा हो गया, तो उस पर इतना क्रोध! अमीर होकर क्या आदमी अपनी इन्सानियत बिलकुल खो देता है?'

'यह भी अँग्रेजी राज है, जिसका आप बखान कर रहे थे।'

एक ग्रामीण बोला—दफतरन माँ घुसन तो पावत नहीं, उस पर इत्ता मिजाज!

ईश्वरी ने अँग्रेजी में कहा– 'What an idiot you are sir!'

और मेरा नशा अब कुछ-कुछ उतरता हुआ मालूम होता था।

राय कृष्णदास

(जन्म १८९२ ई०)



आपका जन्म काशी के भारत-प्रसिद्ध राय खान्दान में हुआ है। आपके पिता राय प्रह्लाददासजी महोदय भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी के फुफेरे भाई थे। वे बहुत बड़े विद्या-व्यसनी एवं कला-मर्मज्ञ थे, अतः इस विषय में पिता की सजीव छाप राय कृष्णदासजी पर पड़ी है। अंग्रेजी और संस्कृत की शिक्षा पिता के संरक्षण में घर ही पर मिली, यद्यपि उनके शीघ्र गोलोकवासी होने के कारण उसे आपको अपनी ही रुचि से पूरा करना पड़ा। भारतेन्दु जी के परिवार से रक्त का सम्बन्ध होने के कारण हिन्दी-प्रेम आपकी नस-नस में व्याप्त था। आप बाल्यकाल से ही लिखने में रुचि रखते एवं साहित्यिक मनीषियों के संसर्ग में रहते थे। आपके अन्तरंग मित्रों में स्वर्गीय जयशंकरप्रसादजी एवं श्री मैथिलीशरणजी गुप्त उल्लेखनीय हैं। आचार्य द्विवेदीजी की आप पर अनन्य कृपा थी। फलतः आपने साहित्य के विविध अंगों की बड़ी मौलिक सेवा की है। आप उत्कृष्ट गद्य-काव्य-लेखक एवं कविता, कथोपकथन, कहानी तथा निबन्ध के उच्चकोटि के स्रष्टा माने जाते हैं। भारतीय चित्र-कला एवं मूर्तिकला के विशिष्ट मर्मज्ञों में आपकी गणना होती है। पुरातत्त्व के भी आप अच्छे जानकार हैं। आपने अपने अमूल्य प्राचीन चित्रों का संग्रह 'भारत-कला-भवन' नागरी-प्रचारिणी सभा काशी को देकर भारतीय इतिहास का एक गौरवमय पृष्ठ जन-साधारण के लिए सुलभ कर दिया है।

रमणी का रहस्य

लड़कपन में वणिक्-पुत्र सुना करता कि सात समुद्र, नव द्वीप के पार एक स्फटिकमय भूमि है। वहाँ एक तपस्वी क्या जाने कब से अविराम तप कर रहा है और उसकी पवित्रता के कारण सूर्यनारायण निरन्तर उसकी परिक्रमा किया करते हैं और उसके तेज से वहाँ कभी अंधकार नहीं होता।

उस यती के एक कन्या है—वही इस संसार में उसकी एकमात्र कुटुम्बी है। वह कन्या प्रभात बेला की ऐसी टटकी और कमनीय है तथा स्वाती की बूँद की तरह निर्मल, शीतल और दुर्लभ है।

उन दिनों वह सोचता कि मैं ऐसी अच्छी सखी पाऊँ, तो दिन-का-दिन उसके संग खेलता-कूदता रहूं, ऊधम मचाता रहूँ। अपने प्रत्येक खेल-कूद में वह उसका स्थान नियत कर लेता और कल्पना से उसकी पूर्ति कर लेता।

किन्तु, धीरे-धीरे कल्पनापूर्ण लड़कपन यथार्थता खोजने वाली युवावस्था में परिवर्तित हो गया और वणिक्-पुत्र के लिए जो बातें सच थीं, अब लड़कपन का खिलवाड़ हो गयीं। और उसे उस कुमारी को वस्तुतः प्राप्त कर अपनी जीवन-सहचरी बना कर युवावस्था का अधूरापन दूर करने की चिन्ता दिन-रात सताने लगी।

धीरे-धीरे अनेक नगरों से उसके ब्याह की बातचीत आने लगी; किन्तु ब्याह का नाम सुनते ही उसका मुँह लटक जाता। उसकी यह दशा देख उसके पिता ने एक दिन पूछा—हे वत्स! क्या कारण है कि विवाह का नाम सुनकर तुम अवसन्न हो जाते हो?

तब उस वणिक्-पुत्र ने अपना तात्पर्य छिपाकर नम्रता-पूर्वक पिता से कहा—तात! वैश्यकुल में मेरा जन्म हुआ है; अतः वाणिज्य मेरा धर्म है। सो मेरी इच्छा है कि अपने बाहुबल से कुछ अर्जन कर लूँ, तब गृहस्थाश्रम में प्रवेश करूँ; क्योंकि स्वार्जित वित्त के व्यय और उपभोग से मेरा आनन्द, उत्साह और हृदय द्विगुण हो उठेगा।

'पुत्र! तुमने बहुत उचित सोचा है और यद्यपि मेरा हृदय तुम्हें छोड़ना

नहीं चाहता और तुम्हारे वियोग से तुम्हारी माता की वृद्धावस्था नाश-हत हो जायगी, तो भी तुमने स्वधर्म की बात विचारी है, अतः मैं तुम्हें नहीं रोकूँगा। कल ही मैं तुम्हारे लिए सात पोत लदवाये देता हूँ, तुम उन्हें लेकर अपने परिकर समेत देश-देशांतर भ्रमण कर के यथेष्ट व्यापार और उपार्जन करो।'

आज्ञा पाकर उसके आनन्द का पारावार न रहा और रात-दिन परिश्रम कर के रात दिन में वह अपनी यात्रा के लिए पूर्णतः तैयार हो गया।

आठवें दिन प्रातःकाल वह अपने माता-पिता से विदा हुआ। उस समय उनकी आँखों में आँसू भर जाने से उनकी दृष्टि धुँधली पड़ रही थी, अतः वे अपनी सन्तान को ठीक-ठीक देख भी न सके। यद्यपि वणिक्-पुत्र को उनका वियोग सहज न था, तो भी नये देशों के देखने का उत्साह और अपनी कल्पना की प्रेयसी के मिलने की प्रत्याशा से उसका हृदय आनन्द से फड़क रहा था।

शीघ्र ही वह अपने जहाज पर बैठा और उसका, मानों जहाजों का बेड़ा, अनुकल पवन पाता हुआ द्वीप-पर-द्वीप तँय करता गया।

प्रत्येक द्वीप में व्यापार करते-करते उसने स्वर्ण की बड़ी भारी राशि बटोर ली थी और यों तीन वर्ष बीतने पर जब वह स्कन्ध नाम देश में पहुँचा, जहाँ के लोग भालू और सामुद्रिक सिंह की खाल पहनते हैं, तो उसने बड़ा उत्सव मनाया, क्योंकि उसे अनेक देश देखने का तथा अर्थ के लाभ का आनन्द तो दिखाने-मात्र को था; उसको प्रसन्नता तो इस बात की थी कि वह अपने लक्ष्य-स्थान के पास पहुँच गया था, क्योंकि यहाँ से वह स्फटिक द्वीप केवल एक मास की दूरी पर था।

तब वणिक्-पुत्र ने अपने छः जलयानों को और समस्त साथियों को वहीं छोड़ा और अकेला एक पोत पर अपने अभीप्ट स्थान की ओर चल पड़ा। उसके साथी न तो उसे रोकने में ही कृतकार्य हुए, न उसका यह उद्देश्य जानने में ही।

दो दिन में उसका जहाज उस समुद्र में पहुँच गया, जो ठीक शरद् के आकाश की नाई है, क्योंकि वह वैसा ही प्रशस्त है, वैसा ही निर्मल है और वैसा ही नील है, साथ ही जैसे इसमें शुभ्र घन घूमा करते है, वैसे ही उसमें बड़े-बड़े बरफ के पहाड़ तैर रहे थे। उन्हें देख कर माँझियों के छक्के छूट गये, किन्तु वणिक्-पुत्र में ऐसी दृढ़ता आ गयी थी कि उसने उन लोगों को पूरा धीरज बँधा दिया और स्वयं जहाज का मार्ग निर्दिष्ट करने लगा। सचमुच ही उसके निश्चय को उन विशालकाय हिम-पर्वतों ने मार्ग देना आरम्भ किया और अपनी यात्रा के महीनवें दिन वह जहाज

स्फटिकद्वीप के किनारे जा लगा।

अब वणिक्-पुत्र ने उन माँझियों से भी पिंड छुड़ाया और अकेला उस द्वीप पर एक ओर चल पड़ा। वास्तव में वह द्वीप भी वरफ का ही था, और वह कुछ दूर भी नहीं गया होगा कि मारे शीत के उसके पैर निष्प्राण-से हो उठे, किन्तु उसका साहस उसे घसीट ले चला और उसे एक झुण्ड ऐसे पक्षियों का आता दिखलाई पड़ा, जो करीब-करीब मनुष्य ही के इतने ऊँचे थे और झूमते हुए मोटे मनुष्य की तरह चल भी रहे थे! उनके सम्पूर्ण शरीर रोएँदार पर से ढँके हुए थे और अपनी भाषा में कुछ कहते हुए वे उसी की ओर बढ़े आ रहे थे।

वणिक्-पुत्र उनका कोलाहल तो न समझ सका, किन्तु इतना जान गया कि वे उसकी सहायता के लिए आ रहे हैं, अतएव वह वहीं ठहर गया। कुछ क्षणों में वे उसके निकट आ गये और उसे चारों ओर से इस तरह घेर लिया कि उनकी गर्मी से शीघ्र ही वह स्वस्थ हो गया। फिर तो पक्षियों का वह झुण्ड, उसके साथ हो लिया और उसे बड़े सुख से मार्ग दिखाता हुआ उस तापस के आश्रम की ओर ले चला।

वह झुण्ड उसे गर्मी पहुँचाता था—जब वरफ पड़ने लगती थी, तब अपने डैनों की आड़ में ले लेता था और रात्रि में अपने डैनों का ओढ़ना-बिछौना बना कर उसे सुख की नींद सुलाता था, इतना ही नहीं, अपने में साहुत कर के प्रति सातवें दिन उनमें से एक अपना प्राण दे देता था, जिससे एक सप्ताह तक वणिक्-पुत्र का उदर-पोषण होता था।

इस प्रकार इक्कीसवें दिन उसे तापस का आश्रम दिखलाई दिया। ज्यों-ज्यों वह उसके निकट पहुँचने लगा, त्यों-त्यों उसकी विचित्र दशा होती गयी—उसके मन, प्राण और शरीर में एक ऐसा जबर्दस्त तूफान उठ खड़ा हुआ कि उसमें उसका आपा सर्वथा विलीन हुआ जा रहा था। यह अवस्था यहाँ तक बढ़ी कि उस आश्रम में पहुँचते ही ज्यों उस मुनि-कन्या पर उसकी दृष्टि पड़ी, वह पत्थर का हो उठा और मुनि-कन्या, जो ललक कर उसके स्वागतार्थ बढ़ी थी, यह दशा देख कर एक चीख मार के बेहोश हो गयी।

उसका आरव सुन पर तपस्वी अपने एकान्त से उठ आया। उसने अपने तपोबल से वैश्य-कुमार को पुनरुज्जीवित किया, फिर परिचर्या द्वारा अपनी कन्या की मूर्च्छा भी दूर की। वैश्य-कुमार उस समय एक अद्भुत आनन्द के समुद्र में

डूब-उतरा रहा था; क्योंकि उसने मुनि-कन्या की अपने हृदय में जो कल्पना की थी, वह इसके सामने कोई चीज ही न थी। यह तो आशा के समान लावण्यवती थी और जब उसने पहले-पहल प्रश्न किया—तुम्हें क्या हो गया था?—तब उसे ऐसा जान पड़ा कि वीणा का स्वर—इस कण्ठ की छूँछी विडम्वना मात्र है।

कुछ ही क्षणों में तापस अपने एकान्त में चला गया और वे दोनों ऐसे घुल-मिल गये, मानो जन्म-जन्म के संगी हों, एवं विविध वार्त्तालाप करने लगे। इस प्रकार जब तीन प्रहर बीत गये, तब वह मुनि पुनः वहाँ आया और वणिक्-पुत्र से कहने लगा—

वत्स, मैंने जान लिया कि इस कुमारी का जन्म तुम्हारे लिए ही हुआ है, सो इसे ग्रहण करो, मैं इसे तुमको दूँगा। यद्यपि देवता तक इसकी आकांक्षा कर रहे हैं; किन्तु मैंने उनसे स्पष्ट कह दिया है कि यह मर्त्यबाला है और मर्त्य से ही इसका सम्बन्ध शोभन होगा। परन्तु, मेरी प्रतिज्ञा थी कि जो मर्त्य यहाँ तक पहुँच सकेगा, वही इसका अधिकारी होगा, सो आज तुम आ गये! अब शुभ-लग्न में मैं इसे तुमको दे दूँगा। चौबीस प्रहर तुम हमारा आतिथ्य स्वीकार करो, उसके बाद वह मुहूर्त्त आवेगा।

इतना कह कर वह तो चला गया और मुनि-कन्या, जो सिर नीचा किये हुए थी, उसी मुद्रा से उससे बोली—मेरी भी एक प्रतिज्ञा है, उसे तुम समझ लो, क्योंकि बिना उसके पूरा हुए तुम मुझे न पा सकोगे।

वणिक्-पुत्र कहने लगा—चारुहासिनी! वह कौन ऐसी बात है, जो मैं तुम्हारे लिए न कर सकूँगा! तुम उसके कहने में संकोच न करो, बस शीघ्र ही मुझे अपनी प्रतिज्ञा सुनाओ, क्योंकि मैं अधीर हो रहा हूँ।

तब वणिक्-पुत्र को अपनी चितवन की इन्दीवर माला पहनाते हुए उसने दृढ़ता से कहा—जो यहाँ बसने की प्रतिज्ञा करेगा, वही मुझे पा सकेगा, अन्यथा मैं विवाह न करूँगी; क्योंकि पिता को अकेला छोड़कर मैं नहीं जा सकती, कौन उनकी देख-रेख करेगा। पिता से अनुनय कर के उन्हें उनके निश्चय से विरत करूँगी और आजन्म कुमारी रहने की अनुज्ञा प्राप्त करूँगी।

वैश्य-पुत्र ने समझा था कि कुमारी कोई बड़ी-बेंड़ी समस्या उपस्थित करेगी, किन्तु उसकी बात सुनकर उसे अत्यन्त आश्चर्य हुआ, क्योंकि उसे तो अपने देश की कोई सुध ही न रह गयी थी—वह तो कुमारीमय को रहा था।

अविलम्ब ही वह बोला—यह कौन बड़ी बात है—रम्य प्रेमा न जन्म भूः। भला इससे बढ़कर कौन देश होगा, जहाँ सूर्य कभी अस्त ही नहीं होता और तुम्हारा पूर्ण चन्द्रानन नित्य उदित रहता है।

यह सुनकर कुमारी ने अपनी मुसकान का जादू उस पर फेर दिया।

बात करते चौबीस पहर बीत गये, क्योंकि वहाँ कभी सूर्यास्त न होने के कारण समय की गणना पहरों से ही होती थी और वह शुभ घड़ी आ पहुँची, जिसकी अभिलाषा वणिक्-पुत्र को जन्म से ही थी। योगी को मुक्ति से जो आनन्द होता है, उसका उसे अनुभव-सा हो उठा और विवाह-कृत्य पूर्ण करके यती जब अपनी साधना में प्रवृत्त हुआ, नव दम्पति हाथ-में-हाथ दिये हुए बरफ के मैदान में टहलने के लिए निकल पड़े। उस समय वैश्य-पुत्र को ऐसा प्रतीत हुआ कि वह अपनी शची को लिए हुए नन्दन कानन-विहारी इन्द्र है। प्रेमालाप करते हुए दोनों आगे बढ़े। वणिक्-पुत्र का मुँह दिव्य तेज से दमक रहा था, उसने कहा—सखि! मैं यहीं बरफ काटकर तुम्हारे लिए एक ऐसी गुफा बनाऊँगा कि तुम्हें उसमें शीत का लेश-मात्र कष्ट न होगा।

किन्तु नवपरिणीता ने इसका कोई उत्तर न दिया। वह क्षितिज को एकटक देख रही थी। ऐसा जान पड़ता था कि उसकी दृष्टि उस पटल को बेध कर उसके पार के दृश्य देखने में निमग्न है।

कौतूहल से उसकी वह तन्मयता भंग करते हुए वैश्य-पुत्र ने पूछा—किस ध्यान में हो?

'कुछ नहीं, सोच रही थी कि तुम्हारा देश कैसा होगा!'

क्यों?—पति ने उत्सुकता से पूछा।

इसीलिए कि वह तुम्हारा देश है।—उसकी ममता ने उत्तर दिया।

सहसा आर्य-कुमार को जन्मभूमि की याद आ गयी। माता-पिता की विकलता उसका हृदय सालने लगी। तो भी वह बड़ी कठिनता से अपने भावों को सफलता-पूर्वक दबाये रहा; किन्तु उसकी अर्धांगिनी उन भावों का स्वतः अनुभव कर रही थी। जी से बोली—उत्कट इच्छा होती है वहाँ चलने की; किन्तु साथ ही उसने बेबसी से—नहीं, अपने पिता की प्रीति में पगकर, कहा—ऐसा कहाँ सम्भव है!

पति पुलक उठा। उसने अपनी प्रेयसी को चूम लिया। यह चुम्बन उस तापस-कन्या के जीवन में प्रणय का प्रथम चुम्बन था। वह अपने को सँभाल न सकी।

उसका शरीर सनसना उठा, आँखें मुँद गयीं; किन्तु एक ही क्षण में उसकी अकृत्रिम, सरल, नर-नारी-भेद-विहीन उन्मुक्त प्रकृति जहाँ-की-तहाँ आ गयी और उसने कहा—चलो, विवाह-मण्डप ज्यों-का-त्यों पड़ा है। उसका परिष्कार करना है।

दोनों लौट पड़े।

* * *

दो-तीन पहर बाद तापस अपनी साधना से विरत हुआ। नवदम्पति कहीं एकान्त में बैठे प्रेमालाप कर रहे थे। उसने उन्हें आवाज दी और वे उस ओर चले, किन्तु पत्नी सकुच रही थी।

इस जोड़ी को देख कर उसके निराकुल हृदय में भी सांसारिकता की एक लहर आ गयी, जिसके कारण उसकी प्रशान्त दृष्टि हर्ष से चमकने लगी। प्रसन्नता का एक उच्छ्वास लेकर उसने जामाता से कहा—धनी ! मेरी साधना में आज तक तेरी इस थाती की चिन्ता बाधक थी, आज उसे तुझको सौंप कर मैं पूर्णतः निर्मम हो गया। अब तुमको अपने देश जाना चाहिए।

मुनि-कन्या पति के पीछे आँखें नीची किये खड़ी थी। यह सुन कर उसका हृदय सिहर उठा। उसने कुछ कहना चाहा। पिता से आज तक उसे जो कहना हुआ था, उसने निधड़क कहा था, किन्तु इस समय उसका हृदय धड़कने लगा, लाज ने उसका कण्ठ थाम लिया।

वैश्य-कुमार ने संभ्रम से पूछा—यहाँ आपकी सेवा . . .।

तपस्या और सेवा—ये दो विरुद्ध बातें हैं। तपस्वी को सेवा की क्या आवश्यकता ! इसके यहाँ रहने पर मैं इससे परिचारित होता था, इसके ममत्व से सिंचित होता था, इसलिए नहीं कि मुझे उनकी आवश्यकता थी। नारी जगज्जननी हैं, उनका हृदय दया-मया, करुणा से निर्मित होता है। वहाँ से इनकी निरन्तर वृष्टि हुआ करती है, जो इस धधकते हुए जगतीतल को शीतल और हरा-भरा बनाये रहती है। उसी वृष्टि को—इनके स्वभाव को—इसी दिन के लिए बनाये रखना मेरा कर्त्तव्य था। आज उसके उपयोग का समय आ गया है। अब अपने गृहक्षेत्र को उस वृष्टि से यह सींचे।—उस नवीन गृही को तत्त्वदर्शी ने समझाया।

तो क्या हम लोग आपको ऐसे ही छोड़ दें ?—उसने शंका की।

तपस्वी ने उत्तर दिया—यही तो मेरी सब से बड़ी सेवा होगी। तुम्हीं सोचो कि तुम लोगों के यहाँ रहने से मेरे मार्ग में विक्षेप के सिवा क्या होगा, गृही और-

गृहत्यागी का साथ नहीं हो सकता। मुझे तो एकान्त दे दो।

वैश्य ने नतशिर होकर यह आदेश अंगीकार किया। और तपस्वी यह कह कर पुनः एकान्त में चला गया कि—अब से डेढ़ पहर बाद तुम्हारे प्रस्थान का मुहूर्त है, उस समय आकर मैं तुम्हें विदा दे दूँगा।

तापस-कन्या रो रही थी। अतीत वर्तमान बन कर उसके सामने अभिनय करने लगा।

तुम उदास क्यों हो रही हो इतना ?—वैश्य-पुत्र उसका पाणि-पीड़न करते हुए समझाने लगा।

कुछ नहीं, अतीत की स्मृति बड़ी दुखदायी होती है।—उसने अनमनेपन से उत्तर दिया।

हाँ, वह वर्तमान को भी विगत बना देती है।—कुछ गम्भीर होकर उसके पति ने कहा।

सो तो जानती हूँ, किन्तु क्या कीजिएगा ! प्राण जो रोते हैं !—उसने मृदुलता से कहा, एक लम्बी साँस लेकर।

हृदय छोटा न करो।—वैश्य-पुत्र ने ढाढ़स दिया।

तुम पुरुषों में इतनी निर्ममता हो और तुम्हीं पर नारी ममता करे, यह भी एक विधि-विडम्बना है !—उदासीनता से रुदिता ने कहा।

पति ने सफाई दी—मुझसे तुम्हारे आँसू नहीं देखे जाते।

क्योंकि तुम पुरुष हो। तुम रूप रखना जानते हो और नारी से भी उसी की प्रत्याशा करते हो। तभी तो कहती हूँ कि तुम निर्मम होते हो। मैं जानती हूँ कि यहाँ अब मेरा कुछ नहीं। अब तो वही मेरा देश है, वही मेरा संसार है; वही के लिए उपजी हूँ, फिर भी हृदय नहीं मानता, वह तड़पता है, मैं रोती हूँ। यदि मैं पुरुष होती और रूप रक्खे होती, तो तुम्हें शान्ति मिलती।

वणिक् अवाक् हो गया। उसे यह रहस्य अवगत हो उठा कि नारी का प्रकृत रूप उसकी मुसकान में नहीं, उसके आँसुओं में प्रत्यक्ष होता है।

वैश्य-बाला रोती रही।

* * *

डेढ़ पहर बीत गया। तपस्वी पुनः आया। कन्या उसके पाँव पकड़ कर रुदन करने लगी। पिता ने उठा लिया। सिर पर हाथ फेरते हुए रुद्ध कण्ठ से उसने कहा—

वत्से ! क्यों अपने पिता की ममता को बाँध रही है। इस अकिंचन के पास एक वही तो तुझे दहेज देने को बची है। उसे भी अपनी ममता के अपार भण्डार में मिला ले और उसका भूरि-भूरि उपहार उन्हें जाकर दे, जो वहाँ तुम्हारी बाट जोह रहे हैं।

उसने अपनी बेटी से इतनी भीख माँगी; किन्तु कामना करके भी वह उसे प्रदान न कर सकी। उलटे इस असमर्थता ने उसकी करुणा को और भी विगलित कर दिया।

तपस्वी पुनः प्रशान्त हो गया। गम्भीर होकर बोला—बेटी ! तेरी इतने दिनों की साधना का यह शुभ फल मुझे मिला है, अब जिस आश्रम का द्वार तेरे लिए उन्मुक्त हुआ है, उसमें प्रवेश करके उसकी सिद्धि कर। यही परम्परा तो तुझे पूर्णता तक पहुँचावेगी। अब देर न कर, मुहूर्त्त बीत रहा है।

बेटी की रोते-रोते हिचकियाँ बँध गयी थीं। उसने चुपचाप पिता के चरण छुए। वैश्य का भी हृदय गद्गद् हो रहा था, उसने भी उनके चरणों पर अपने आँसू चढ़ाये। तपस्वी ने दोनों की पीठ पर हाथ रख कर असीसा—जाओ तुम्हारा संसार सुखी और भरा-पूरा हो।

* * *

तपस्वी वहीं ज्यों-का-त्यों खड़ा था। उसके दोनों हाथ वक्षस्थल पर मुद्रित थे, दाहिना पंजा बाँयीं और बाँयाँ दाहिनी काँख के नीचे दबा हुआ था। वह एकटक शून्य दृष्टि से उसी ओर देख रहा था, जिधर नव दम्पति चले जा रहे थे। उस वीत-राग की ममता ही उनका एकमात्र असबाब था। प्रस्थिता के पैर लड़खड़ा रहे थे, मानो पीछे पड़ते हों। वह अपने को सँभाल न सकती थी—उसका स्वामी उसे सहारा दे रहा था।

देखते-ही-देखते वे ओझल हो गये और उसी क्षण उस निर्मम की आँखों से ममता की दो बूँदें टपक पड़ीं।

सुदर्शन

(जन्म १८९६ ई०)



असली नाम बदरीनाथ है; पर साहित्य के क्षेत्र में 'सुदर्शन' के नाम से प्रसिद्ध हैं। सुदर्शनजी का जन्म सियालकोट, पंजाब में एक मध्यम श्रेणी के परिवार में हुआ। आपने बी० ए० तक शिक्षा पायी है। साहित्य की ओर आपकी रुचि बाल्यावस्था से है। जब छठवें दर्जे में पढ़ते थे, तब आपने उर्दू में पहली कहानी लिखी थी। प्रेमचन्द की तरह आप भी उर्दू के ख्याति-प्राप्त लेखक बन चुकने पर हिन्दी में आये। हिन्दी में आपकी सबसे पहली कहानी १९२० में सरस्वती में छपी। अपनी स्वाभाविक तथा मनोरंजक कहानियों तथा सरल एवं लालित्यपूर्ण भाषा से आपने शीघ्र हिन्दी कहानी के पाठकों के हृदय में अपना स्थान बना लिया। लोक-प्रियता की दृष्टि से कहानी-लेखकों में प्रेमचन्द के बाद आपका ही नाम लिया जाता है। अब तक आपकी कहानियों के पाँच संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। आपने 'भागवन्ती' नाम से एक उपन्यास तथा 'आनरेरी मैजिस्ट्रेट' नाम से एक प्रहसन भी लिखा है।

हार की जीत

माँ को अपने बेटे, साहूकार को अपने देनदार और किसान को अपने लह-लहाते खेत देखकर जो आनन्द आता है, वही आनन्द बाबा भारती को अपना घोड़ा देखकर आता था। भगवत्-भजन से जो समय बचता, वह घोड़े को अर्पण हो जाता। यह घोड़ा बड़ा सुन्दर था, बड़ा बलवान्। इसके जोड़ का घोड़ा सारे इलाके में न था। बाबा भारती उसे सुलतान कहकर पुकारते, अपने हाथ से खरहरा करते, खुद दाना खिलाते, और देख-देख कर प्रसन्न होते थे। ऐसी लगन, ऐसे प्यार, ऐसे स्नेह से कोई सच्चा प्रेमी अपने प्यारे को भी न चाहता होगा। उन्होंने अपना सब कुछ छोड़ दिया था; रुपया, माल, असबाब, जमीन; यहाँ तक कि उन्हें नागरिक जीवन से भी घृणा थी। अब गाँव से बाहर एक छोटे-से मन्दिर में रहते और भगवान् का भजन करते थे; परन्तु सुलतान से बिछुड़ने की वेदना उनके लिए असह्य थी। मैं इसके बिना नहीं रह सकूँगा, उन्हें ऐसी भ्रांति-सी हो गयी थी। वह उसकी चाल पर लट्टू थे। कहते, ऐसा चलता है, जैसे मोर घन-घटा को देखकर नाच रहा हो। गाँवों के लोग इस प्रेम को देखकर चकित थे; कभी-कभी कनखियों से इशारे भी करते थे; परन्तु बाबा भारती को इसकी परवा न थी। जब तक संध्या-समय सुलतान पर चढ़ कर आठ-दस मील का चक्कर न लगा लेते, उन्हें चैन न आता?

खड्गसिंह इस इलाके का प्रसिद्ध डाकू था। लोग उसका नाम सुन कर काँपते थे। होते-होते सुलतान की कीर्ति उसके कानों तक भी पहुँची। उसका हृदय उसे देखने के लिए अधीर हो उठा। वह एक दिन दोपहर के समय बाबा भारती के पास पहुँचा और नमस्कार करके बैठ गया।

बाबा भारती ने पूछा—'खड्गसिंह, क्या हाल है ?

खड्गसिंह ने सिर झुका कर उत्तर दिया—आपकी दया है।

'कहो, इधर कैसे आ गये ?'

'सुलतान की चाह खींच लायी।'

'विचित्र जानवर है। देखोगे, तो प्रसन्न हो जावोगे।'

'मैंने भी बड़ी प्रशंसा सुनी है ।'

'उसकी चाल तुम्हारा मन मोह लेगी ।'

'कहते हैं, देखने में भी बड़ा सुन्दर है ।'

'क्या कहना । जो उसे एक बार देख लेता है, उसके हृदय पर उसकी छवि अंकित हो जाती है ।'

'बहुत दिनों से अभिलाषा थी; आज उपस्थित हो सका हूँ ।'

बाबा और खड्गसिंह, दोनों अस्तबल में पहुँचे । बाबा ने घोड़ा दिखाया घमंड से । खड्गसिंह ने घोड़ा देखा आश्चर्य से । उसने सहस्रों घोड़े देखे थे; परन्तु ऐसा बाँका घोड़ा उसकी आँखों से कभी न गुजरा था । सोचने लगा, भाग्य की बात है । ऐसा घोड़ा खड्गसिंह के पास होना चाहिए था । इस साधु को ऐसी चीजों से क्या लाभ ? कुछ देर तक आश्चर्य से चुपचाप खड़ा रहा । इसके पश्चात् हृदय में हलचल होने लगी । बालकों की-सी अधीरता से बोला—परन्तु बाबाजी, इसकी चाल न देखी, तो क्या देखा ?

२

बाबाजी भी मनुष्य ही थे । अपनी वस्तु की प्रशंसा दूसरे के मुख से सुनने के लिए उनका हृदय भी अधीर हो गया । घोड़े को खोलकर बाहर लाये और उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगे । एकाएक उचक कर सवार हो गये । घोड़ा वायु-वेग से उड़ने लगा । उसकी चाल देखकर, उसकी गति देखकर खड्गसिंह के हृदय पर साँप लोट गया । वह डाकू था, और जो वस्तु उसे पसन्द आ जाय, उस पर अपना अधिकार समझता था । उसके पास बाहुबल था, और आदमी थे । जाते-जाते उसने कहा—बाबाजी, मैं यह घोड़ा आपके पास न रहने दूंगा ।

बाबा भारती डर गये । अब उन्हें रात को नींद न आती थी । सारी रात अस्तबल की रखवाली में कटने लगी । प्रतिक्षण खड्गसिंह का भय लगा रहता; परन्तु कई मास बीत गये, और वह न आया । यहाँ तक कि बाबा भारती कुछ लापरवाह हो गये । और इस भय को स्वप्न के भय की नाई मिथ्या समझने लगे ।

संध्या का समय था । बाबा भारती सुलतान की पीठ पर सवार होकर घूमने जा रहे थे । इस समय उनकी आँखों में चमक थी, मुख पर प्रसन्नता । कभी घोड़े के शरीर को देखते, कभी रंग को, और मन में फूले न समाते थे ।

सहसा एक ओर से आवाज आयी—ओ बाबा, इस कँगले की भी बात सुनते

जाना ।

आवाज में करुणा थी । बाबा ने घोड़े को थाम लिया । देखा एक अपाहिज वृक्ष की छाया में पड़ा कराह रहा है । बोले—क्यों, तुम्हें क्या कष्ट है ?

अपाहिज ने हाथ जोड़ कर कहा—बाबा, मैं दुखिया हूँ । मुझ पर दया करो । रामाँवाला यहाँ से तीन मील है; मुझे वहाँ जाना है । घोड़े पर चढ़ा लो, परमात्मा भला करेगा ।

'वहाँ तुम्हारा कौन है ?'

'दुर्गादत्त वैद्य का नाम आपने सुना होगा । मैं उनका सौतेला भाई हूँ ।'

बाबा भारती ने घोड़े से उतर कर अपाहिज को घोड़े पर सवार किया, और स्वयं उसकी लगाम पकड़ कर धीरे-धीरे चलने लगे ।

सहसा उन्हें एक झटका-सा लगा, और लगाम हाथ से छूट गयी । उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने देखा कि अपाहिज घोड़े की पीठ पर तन कर बैठा, और घोड़े को दौड़ाये लिये जा रहा है । उनके मुख से भय, विस्मय और निराशा से मिली हुई चीख निकल गयी । यह अपाहिज खड्गसिंह डाकू था ।

बाबा भारती कुछ देर तक चुप रहे, और इसके पश्चात् कुछ निश्चय करके पूरे बल से चिल्ला कर बोले—जरा ठहर जाओ ।

खड्गसिंह ने यह आवाज सुनकर घोड़ा रोक लिया, और उसकी गर्दन पर प्यार से हाथ फेरते हुए कहा—बाबाजी, यह घोड़ा अब न दूँगा ।

'परन्तु एक बात सुनते जाओ ।'

खड्गसिंह ठहर गया । बाबा भारती ने निकट जाकर उसकी ओर ऐसी आँखों से देखा, जैसे बकरा कसाई की ओर देखता है, और कहा—यह घोड़ा तुम्हारा हो चुका । मैं तुमसे इसे वापस करने के लिए न कहूँगा । परन्तु खड्गसिंह, केवल एक प्रार्थना करता हूँ, उसे अस्वीकार न करना, नहीं तो मेरा दिल टूट जायगा ।

'बाबाजी, आज्ञा कीजिए । मैं आपका दास हूँ; केवल यह घोड़ा न दूँगा ।'

'अब घोड़े का नाम न लो, मैं तुमसे इसके विषय में कुछ न कहूँगा । मेरी प्रार्थना केवल यह है कि इस घटना को किसी के सामने प्रकट न करना ।'

खड्गसिंह का मुँह आश्चर्य से खुला रह गया, उसका विचार था कि मुझे

कहा कि इस घटना को किसी के सामने प्रकट न करना। इससे क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ? खड्गसिंह ने बहुत सोचा, बहुत सिर मारा; परन्तु कुछ समझ न सका। हार कर उसने अपनी आँखें बाबा भारती के मुख पर गड़ा दीं, और पूछा—बाबाजी, इसमें आपको क्या डर है ?

सुनकर बाबा भारती ने उत्तर दिया—लोगों को यदि इस घटना का पता लग गया, तो वे किसी गरीब पर विश्वास न करेंगे।

और यह कहते-कहते उन्होंने सुलतान की ओर से इस तरह मुँह मोड़ लिया, जैसे उनका उससे कभी कोई सम्बन्ध ही न था। बाबा भारती चले गये; परन्तु उनके शब्द खड्गसिंह के कानों में उसी प्रकार गूँज रहे थे। सोचता था, कैसे ऊँचे विचार हैं, कैसा पवित्र भाव है ! उन्हें इस घोड़े से प्रेम था। इसे देख कर उनका मुख फूल की नाईं खिल जाता था। कहते थे, इसके बिना मैं रह न सकूँगा। इसकी रखवाली में वह कई रातें सोये नहीं। भजन-भक्ति न कर रखवाली करते रहे ! परन्तु आज उनके मुख पर दुख की रेखा तक न देख पड़ती थी। उन्हें केवल यह ख्याल था कि कहीं लोग गरीबों पर विश्वास करना न छोड़ दें। उन्होंने अपनी निज की हानि को मनुष्यत्व की हानि पर न्योछावर कर दिया। ऐसा मनुष्य, मनुष्य नहीं देवता है।

३

रात्रि के अन्धकार में खड्गसिंह बाबा भारती के मन्दिर में पहुँचा। चारों ओर सन्नाटा था। आकाश पर तारे टिमटिमा रहे थे। थोड़ी दूर पर गाँवों के कुत्ते भोंकते थे। मन्दिर के अन्दर कोई शब्द सुनाई न देता था। खड्गसिंह सुलतान की बाग पकड़े हुए था। वह धीरे-धीरे अस्तबल के फाटक पर पहुँचा। फाटक किसी वियोगी की आँखों की तरह चौपट खुला था। किसी समय वहाँ बाबा भारती स्वयं लाठी लेकर पहरा देते थे; परन्तु आज उन्हें किसी चोरी, किसी डाके का भय न था। हानि ने उन्हें हानि की तरफ से बे-परवाह कर दिया था। खड्गसिंह ने आगे बढ़ कर सुलतान को उसके स्थान पर बाँध दिया और बाहर निकल कर सावधानी से फाटक बन्द कर दिया। इस समय उसकी आँखों में नेकी के आँसू थे।

अन्धकार में रात्रि ने तीसरा पहर समाप्त किया, और चौथा पहर आरम्भ होते ही बाबा भारती ने अपनी कुटिया से बाहर निकल ठण्डे जल से स्नान किया।

उसके पश्चात् इस प्रकार, जैसे कोई स्वप्न में चल रहा हो, उनके पाँव अस्तबल की ओर मुड़े; परन्तु फाटक पर पहुँच कर उनको अपनी भूल प्रतीत हुई। साथ ही घोर निराशा ने पाँवों को मन-मन-भर का भारी बना दिया। वह वहीं रुक गये।

घोड़े ने स्वाभाविक मेधा से अपने स्वामी के पाँवों की चाप को पहचान लिया, और जोर से हिनहिनाया।

बाबा भारती दौड़ते हुए अन्दर घुसे, और अपने घोड़े के गले से लिपट कर इस प्रकार रोने लगे, जैसे बिछुड़ा हुआ पिता चिरकाल के पश्चात् पुत्र से मिल कर रोता है। बार-बार उसकी पीठ पर हाथ फेरते, बार-बार उसके मुँह पर थपकियाँ देते और कहते थे—अब कोई गरीबों की सहायता से मुँह न मोड़ेगा।

थोड़ी देर बाद जब वह अस्तबल से बाहर निकले, तो उनकी आँखों से आँसू बह रहे थे। ये आँसू उसी भूमि पर ठीक उसी जगह गिर रहे थे, जहाँ बाहर निकलने के बाद खड्गसिंह खड़ा होकर रोया था।

दोनों के आँसुओं का उसी भूमि की मिट्टी पर परस्पर मिलाप हो गया।

उग्र

(जन्म—१९०१ ई०)



असली नाम पाण्डेय बेचन शर्मा है; पर साहित्य के क्षेत्र में 'उग्र' नाम ही प्रसिद्ध है। उग्रजी का जन्म चुनार, जिला मिर्जापुर में एक साधारण ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। आपकी प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा काशी में हुई। बचपन से ही आपकी रुचि पढ़ने-लिखने की ओर अधिक थी। फिर भी असहयोग के जमाने में आपने स्कूल छोड़ दिया। आपकी बुद्धि बचपन से ही प्रखर थी। आपकी पहली कहानी १९२० में 'आज' में छपी थी। हिन्दी में आपकी रचनाओं को लेकर जितना वाद-विवाद हुआ, उतना संभवतः इधर के किसी लेखक को लेकर नहीं हुआ। कुछ लोग आपकी रचनाओं को अछूत की भाँति अस्पृश्य मानते हैं; परन्तु जिन्होंने पक्षपात का चश्मा नहीं चढ़ा लिया है, वे मुक्त-कण्ठ से यह स्वीकार करते हैं कि आपकी लेखनी में जोर है, आपकी लेखन-शैली हिन्दी-साहित्य में सर्वथा अनूठी है तथा आपकी रचनाएँ साहित्य की शोभा बढ़ाने वाली हैं। आपने कहानी के अलावा सफल नाटक, प्रहसन और उपन्यास भी लिखे हैं।

गंगा, गंगदत्त और गांगी

गंगा . . .

महात्मा वेदव्यासजी ने महाभारत में लिखा है—गंगापुत्र भीष्म के पिता श्री शान्तनु महाराज को देखते ही बूढ़ा प्राणी जवान हो जाता था।

मगर, मैं भूल कर रहा हूँ। वह भीष्म के पिताजी नहीं, दादाजी थे, जिनमें उक्त गुणों का आरोप महाभारतकार ने किया है।

एक बार भीष्म पितामह के पितामहजी सुरसरि-तट पर, गंगा-तरंग-हिम-शीतल शिलाखण्ड पर विराजमान भगवान् के ध्यान, तप या योग में निरत थे। काफी वय हो जाने पर भी वह तेजस्वी थे—बली—विशाल बाहु। ललाट उज्ज्वल और उन्नत, आँखें बड़ी और कमलवत। वह सुश्री दर्शनीय थे!

गंगा के मानस पर उनकी अद्भुत छवि ज्योंही प्रतिफलित हुई, जीवन-तरंगें लहराने लगीं। भीष्म के दादाजी पर मुग्ध हो नवयुवती सुन्दरी का रूप धर गंगा प्रकट ही तो हुई। ध्यानावस्थित राजर्षि की दाहिनी पलथी पर वह महा-उन्मत्त हो जा बैठीं!

चमक कर नेत्र खोलते ही तप में बाधा की तरह अपने आधे अंग पर गंगा को मौजें मारते दादाजी ने देखा।

'कौन. . .औरत. . . ?'—गम्भीर स्वर से प्रश्न हुआ।

'जी मैं गंगा हूँ, महाराज! आपके दिव्य रूप को देखते ही—चन्द्र पर चकोर की तरह—मैं पागल हो उठी हूँ! अब मैं आपकी हूँ—हर तरह से।'

लज्जा से अनुरंजित हो गंगा ने अपनी गोरी बाँहें भीष्म के दादा के सुकंठ की ओर बढ़ा दीं।

'मगर, सुन्दरी. . . ! मैं नीतिज्ञ हूँ, विज्ञ हूँ. . . ।'

'तो, क्या हुआ महाराज! मैं भी दिव्य हूँ, पवित्र हूँ।'

'गंगे!'—दादाजी ने सतेज जवाब दिया—'तुम एकाएक मेरी दाहिनी जाँघ पर आ बैठीं, जो बेटी या बहू के बैठने का स्थान है। अब तुम्हें पत्नी-रूप में

स्वीकार करने से सनातनी आर्य-मर्यादा भंग हो जायगी। मर्यादा—अपनी चाल—टूटने से कुल विनष्ट हो जाता है। कुल के विनाश से पितरों को घोर नरक-यातना होती है, जिससे मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है।'

क्षत्रिय राजर्षि का तर्क उचित और मान्य—गंगा मारे लाज के पृथ्वी में डूबती नजर आने लगीं। हताश हो, सूखी-सी, वह दादाजी की गोद से नीचे सरक रहीं।

और गंगा-सी पवित्र, दर्शनीया रमणी को लज्जित और निराश करने का क्षत्रिय महाराज के मन में घोर खेद हुआ।

'महाराज !' —सजल गंगा बोलीं—'दैव विधानानुसार मैं माता बनना चाहती हूँ, इसी हेतु से तपोपूत, कुलीन जान कर आपकी सेवा में आयी। लेकिन आपने तो मुझको बेटी बना दिया !'

'निराश न हो गंगे ! कभी अवसर मिले, तो मेरे शान्तनु से तुम अपनी इच्छा प्रकट कर सकती हो। मुझे इसमें जरा भी आपत्ति न होगी; बल्कि तुम-सी दिव्य वधू पाकर मेरी सात पीढ़ियाँ तर जायँगी।'

'महाराज की जय हो !'—गम्भीर वाणी से गंगा ने भीष्म के दादा को आशीर्वाद दिया—'देवताओं का अभिप्राय पूरा हुआ। अब मैं देवव्रत की माता बन सकूँगी। आर्य ! आपके सद्व्यवहार और सदाचार से सन्तुष्ट हो मैं आपको अक्षय यौवन का वरदान देती हूँ। आज से, आपके दर्शन करते ही, बूढ़ा-से-बूढ़ा प्राणी भी फौरन नवयुवक हो जायगा।'

राजर्षि को आश्चर्य-चकित छोड़ गंगा, अपनी ही लहरों में लीन हो गयी।

गंगदत्त....

उन्हीं दिनों पंडित गंगदत्त शर्मा नाम के एक मूर्ख विद्वान् इन्द्रप्रस्थ महानगर के निकटस्थ किसी ग्राम में रहा करते थे। पंडित जी को मूर्ख विद्वान् लिखने में कलम की कोई भूल नहीं; क्योंकि दुनियाँ में बहुत ऐसे प्राणी हैं, जो अक्ल रखते हुए भी बेवकूफी करते हैं। पंडित गंगदत्त शर्मा वैसे लोगों के पुराणकालीन अगुआ थे, इसमें जरा भी शकोशुबह की गुन्जायश नहीं है।

भीष्म पितामह के दादाजी की तरह पंडित गंगदत्तजी भी दादा स्वरूप हो गये थे, मगर, गंगा के तट पर पद्मासनासीन योग, नहीं, घोर भोग-विलास की

वासना उनके मन में अब भी लहरा रही थी।

पंडितजी के ५५ लड़के थे और ५२ लड़कियाँ। वह उन सब के नाम कहाँ तक याद रखते। अत: १०७ मनकों की एक माला उन्होंने तैयार करायी और प्रत्येक दाने पर एक-एक नाम खुदा लिया; ५५ लड़के, ५२ लड़कियों का जोड़ १०७।

पण्डित गंगदत्त ने सोचा, दो दाने और होने से सुमेर के साथ पूरी माला तैयार हो जायगी। मगर अब ! गंगदत्तजी का शरीर शिथिल था। मन ही का कुनमुनाना नहीं रुकता था; अत:...

'गांगी !'—अपनी धर्मपत्नी को सम्बोधित कर गंगदत्तजी बोले—'सुन्दरी, दो बच्चों के अभाव से माला अधूरी रहती है। यदि तू कृपा करे...!'

'चुप रहो !'—स्त्री सुलभ लज्जा से लाल और पति की पुरुष-दुर्लभ निर्लज्जता से पीली पड़ कर गांगी बोली—'पौने दो सौ सालों से विलास करते आ रहे हो, और अब भी दो मनके बाकी हैं ! हाथ हिलने लगे—बयार में झोंपड़ी से लटकते तिनके की तरह, झूलने लगी—रसोई-घर की छान के झाले की तरह, इन्द्रियाँ पड़ गयीं हैं शिथिल; नाक में पानी, आँख में पानी—कमर गयी है झुक; लेकिन दो मनकों की अभी कमी है-! महाराज ! अब तो राम-राम !'

'शान्त सुन्दरी !'—अपनी १५० वर्ष की पत्नी के पोपले गालों को घोंघा-सा मुँह बना कर स्पर्श करते हुए गंगदत्तजी ने कहा—'राम-राम नहीं, मैं 'शिव-शिव' का उपासक हूँ। और भगवान् शंकर ऐसे दयालु हैं कि भक्त को माँगते ही—मति गति सम्पति भूति बड़ाई—फौरन सौंप देते हैं। मुझसे और भोला बाबा से मित्रता भी है। तुम जरा क्षमा करो—मुझे तप कर आने दो ! दो ही क्या सौ-सौ दाने बनाने की योग्यता—यौवन, सदाशिव से मैं वरदान माँग लाऊँ। जानती हो, तप से आर्यों के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं।'

'धिक् ! ब्राह्मण'—ब्राह्मणी ने सच कहा—'आर्यावर्त्त में रहते हुए भी आप विज्ञानी नहीं, ज्ञानी नहीं, कोरे अज्ञानी हैं ! आपके पुत्र हैं, पुत्रियाँ हैं और हैं पुत्र-पुत्रियों के बच्चे...! फिर भी शंकर ऐसे भगवान् को सन्तुष्ट कर आप लेंगे केवल यौवन ! रत्नाकर से माँगना पंक ! हिमालय से भर आँख धूल की कामना ! छि: ! सौ बार छि: ब्राह्मण !'

'तब यह माला पूरी कैसे होगी ?'

गंगदत्त को ज्ञान का उतना ध्यान नहीं था। उन्हें तो माला पूरी करने की

चिन्ता थी। गंगदत्तजी की मूर्खता विकारहीन थी।

'माला पूरी होगी चिता पर...मेरे मुँह से कुभाषा न सुनिए! मैं कहे देती हूँ—जप या तप से जवान बन कर अगर आप मेरे सामने आवेंगे, तो कह नहीं सकती, किस भाव से मैं आपका स्वागत करूँगी ?'

'याने !'—तोते-सी गोल आँखें नचाकर आश्चर्य से गंगदत्त ने पूछा—मैं जवान हो जाऊँगा, तो मुझे देखते ही तुम अहिंसा धर्म से विरत हो उठोगी ?'

'मुझे विरत या निरत कुछ भी न होना होगा। सारी गृहस्थी की मैं मालकिन हूँ। ये १०७ बच्चे मेरे हैं। आपके जवान होने पर घर की जो परिस्थिति होगी, उसे काल ही जानता होगा।'

'गंगदत्तजी ! ओ पण्डित गंगदत्तजी !'—बाहर से किसी ने पुकारा।

'कौन ? आवाज तो ब्राह्मण मोहदत्त की मालूम पड़ती है सुन्दरी !'—बुड्ढी से गंगदत्तजी ने कहा—'जरा एक आसन तो लाओ। मेरा मित्र, ब्राह्मण मोहदत्त, इन्द्रप्रस्थ से आया है... ।'

तब तक एक निहायत जवान और गठीला, तेजस्वी ब्राह्मण कुटी के आँगन में आ धमका !

'हा-हा-हा ! गंगदत्त ! बूढ़े !' —आगन्तुक ने कहा—'तुमने मुझे पहचाना नहीं ! हा-हा-हा-हा ! मैं इन्द्रप्रस्थ के तपस्वी सम्राट् के दर्शनमात्र से जवान हो गया। हा-हा-हा-हा !'

'क्या ?'—आँखें फाड़-फाड़कर गठीले ब्राह्मण को गंगदत्त ने देखा पहचाना था, वह मोहदत्त ही !

'क्या ?'—ब्राह्मणी बेचारी कुछ समझ ही न सकी —'तपस्वी राजा के दर्शनों से बूढ़ा मोहदत्त जवान हो गया ! अब तो मेरा ब्राह्मण यह आतुर मर्द बिना जवान बने शायद ही रहे। तो क्या जवानी वांछनीय है ? तो क्या राजा के दर्शन तथा यौवन-लाभ कोई सद्‌लाभ है ?' —ब्राह्मणी व्याकुल विचारने लगी।

और गार्गी नाम से पाठक यों न समझें कि द्वापर युग की वह ब्राह्मणी मूर्खा थी। नहीं, वह विदुषी थी, पूरी। ब्राह्मणी का घर का नाम था मनोरमा, मगर, पण्डित गंगदत्त ने उसको बदल कर गांगी इसलिए कर दिया था कि अर्द्धांगिनी का नाम भी अगर पति ही की तरह हो तो परम उत्तम ! खैर...

'अरे मोहा...!'—गंगदत्त ने पूछा—'तू जवान कैसे हो गया ? परसों तक

तो तेरी गति थी—"अंगं गलितं पलितं मुण्डम्" और आज !, क्या एक ही रात में तूने भगवान् शंकर को प्रसन्न कर लिया...?या...क्या ?'

'भाई गंगदत्त !'—मोहदत्त ने समझाया—'देर न करो ! बुढ़ापे में एक क्षण भी काटना नरकवास है। ब्राह्मणी को संग लो और चलो मेरे साथ इन्द्रप्रस्थ ! महाराज के दर्शन कर मुक्त हो जाओ जरा के जाल से।'

'हाँ, हाँ'—आतुर गंगदत्त ने ब्राह्मणी की ओर देखते हुए कहा—'चलो प्रिये ! रथ भी मेरा मित्र मोहदत्त लेता आया है। जो वक्त पर काम आवे वही मित्र। वाह भाई मोहदत्त ! आज यह संवाद, ऐसी सदिच्छा से यहाँ लाकर तुमने हमें कृतार्थ कर दिया ! चलो देर न करो !'—ब्राह्मणी को उन्होंने पुनः ललकारा।

मगर, वह आर्या टस-से-मस न हुई...

'जवानी ऐसी नारकीय अवस्था के लिए मैं न तो किसी देव से वरदान माँगूगी, न ही परपुरुष का मुँह ताकती फिरूँगी।'

'जवानी—नारकीय कैसे ?'—स्त्री के हठ से चिढ़ कर गंगदत्त ने पूछा।

'इसे मैं जानती हूँ। १०७ बार माता बनने में जो नारकीय कष्ट मुझे भोगने पड़े, वे क्यों ? इसी जवानी के लिए। बचपन में अज्ञान है, बुढ़ापे में ज्ञान। मगर, इस जवानी में ज्ञानाज्ञान का ऐसा गोरखधन्धा है, जिसमें पड़ कर धोका खाये बिना शायद ही कोई बचा हो। ज्ञान ही की तरह, मैं तो, शुद्ध अज्ञान को भी दिव्य मानती हूँ। मगर, भ्रम से है मुझे घृणा। और भ्रम ही में जवानी सब को मचलती चलती है।'

'यौवन-ऐसी देवदुर्लभ अवस्था को यह मूर्खा ब्राह्मणी भ्रम और नरक का फाटक कह रही है। देखते हो मोहदत्त...स्त्री-बुद्धिः प्रलयंकरी !'

'अच्छा, इन्हें बूढ़ी ही रहने दीजिए !'—मोहदत्त ने मित्र को राय दी—'आप तो चलकर महाराज के दर्शन प्राप्त कीजिए और प्राप्त कीजिए अप्राप्य यौवन—अनायास ! मेरे कहने का अभिप्राय यह कि जो चीज अनायास मिले, उसे ग्रहण कर भोग लेने में ब्राह्मण के लिए शास्त्रानुसार भी कोई दोष नहीं।'

'क्षमा, आर्य मोहदत्त !'—नम्रता से ब्राह्मणी ने व्यंग किया—'अनायास अगर मैला मिल जाय, तो क्या ब्राह्मण उसका शास्त्रानुसार भोग करेगा ? अ—हूँ ! आप दोनों सज्जन मेरे तर्क पर नाक फुला रहे हैं। मैं सच कहती हूँ—और

ब्राह्मणी सच ही कहती है—यौवन मानव-जीवन का मैल है।'

'अरी मूर्खा ! क्रोध मुझे न दिला !'—बिगड़े अब पंडित गंगदत्तजी—'चरक भगवान् ने लिखा है कि मैला पेट में न रहे, तो आदमी जी नहीं सकता ! मनुष्य के अंग-अंग से, रोम-रोम से, क्या प्रकट होता है ? —मैला ! इस मैले संसार में वही मोटा नजर आवेगा, जो पुष्ट हो, जिसमें मैले ज्यादा हों। यौवन ? हाँ, है मैला। वह, जिसकी सफाई होते ही मनुष्य-जीवन की भी सफाई हो जाती है—चौका लग जाता है। मैले का महत्त्व तुझको समझाना होगा नारी... ?'

इसके बाद मोहदत्त से, दुखित भावेन गंगदत्त ने कहा—जाओ भाई ! मैं इस औरत के वश में हूँ। बिना अर्धांगिनी की इच्छा—कोई भी काम शास्त्र के मत से नहीं कर सकता। चलो बाहर। इस कुटी की वायु में मुझे जरा और मरण भयंकर नजर आ रहे हैं।

कुटी के बाहर आते ही मोहदत्त ने देखा उनके रथ को घेर कर कोई सौ-सवा-सौ नर-नारियों की भीड़ खड़ी है। कुछ साफ न समझ उन्होंने गंगदत्त से पूछा—क्यों ? क्या ये लोग आपके दर्शनार्थ आये हैं—या शिष्य है, कि यजमान ?

'अरे वाह !' —गंगदत्त ने मुँह पसार कर उत्तर दिया —'ब्राह्मण ! तुम मेरे परिवार को भूल गये ? मैं कुल मिलाकर १०७ आदमियों का पिता हूँ। ये सब मेरे बच्चे ! आपके रथ की कलामयी कारीगरी देख रहे हैं।'

'हा-हा-हा ! भाई गंगदत्त ! पहली जवानी में जब तुमने इतनी सृष्टि रच दी, तो एक बार और जवान होने से तुम्हारा नाम प्रजापति दक्ष (द्वितीय) मशहूर होगा।'

'यह बुड्ढी ब्राह्मणी माने तब तो। मैं प्रजापति को भी, सृष्टि में क्रान्ति दिखा दूँ—मगर, मेरी औरत, जरठ होने से, बुद्धिहीन हो गयी !' —दुख-कातर गंगदत्त ने उत्तर दिया। वह मुँह में पानी भर कर अपने मित्र का नवयौवन निहारने लगे। तब तक दोनों रथ के निकट आ रहे। भीड़ छँट गयी।

'वाह !' —रथ के सफेद घोड़ों की तारीफ करते हुए गंगदत्त ने कहा—'मोहदत्त ! घोड़े तो बड़े बाँके हैं।'

घोड़े मैंने श्वेत द्वीप से मँगाये हैं। मुझे रथ का बड़ा शौक है। —मस्त मोहदत्त ने रास सँभाली—वह बैठ भी गया रथ पर—आओ गंगदत्त मित्र ! इन्द्रप्रस्थ से होते आओ। औरत के फेर में स्वर्गलाभ से वंचित न हो !

'हाँ !'—उछल कर आतुर और बूढ़ा ब्राह्मण अब अपने मित्र के पार्श्व में डट गया—'सारथी का काम आश्रम में मैंने भी सीखा है—ये घोड़े—वाह ! रास ज़रा मुझे तो देना—!'

और गंगदत्त ने मोहदत्त के रथ के बाँके घोड़ों को इशारा किया ! और क्षण-भर बाद, दोनों मित्र, इन्द्रप्रस्थ की ओर सनकते नजर आने लगे।

कोई ज्यादा दूर जाना तो था नहीं। शाम होने से पहले ही राजधानी में मोहदत्त का रथ गंगदत्त हाँकते दिखाई पड़े।

याने, मनोरथ उन्होंने अपना पूरा किया अविलम्ब दर्शन लाभ कर महाराजर्षि के, जिन्हें अनन्त यौवन का वरदान गंगा ने दिया था

और लो, ब्राह्मण गंगदत्त भी मोहदत्त की तरह पूर्ण नव यौवन पा गये।

यौवन पाते ही गंगदत्त ने अपने मित्र का साथ छोड़ दिया और छोड़ दिया स्वार्थपूर्ण उजलत से ! उन्हें बड़ी इच्छा हुई, पहले दर्पण में मुँह देखने की। मगर, वहाँ दर्पण कहाँ। इन्द्रप्रस्थ के बाजार में बिकते होंगे। शीशियाँ, लेकिन पैसे—? ब्राह्मण के पास पैसे कहाँ ! गंगदत्त ने सोचा—तो किसी तालाब के पानी में मुँह देखना चाहिए। मगर, रात का ध्यान आते ही यह विचार भी छोड़ देना पड़ा।

नवयुवक ब्राह्मण गंगदत्तजी रात अधिक बीत जाने तक राजधानी की सड़कों पर चक्कर काटते रहे। मगर, आईना पाने की सूरत उन्हें न दिखाई पड़ी। आखिर हताश हो, ज्यों ही वह अपनी कुटी की ओर लौटना चाहते थे, त्यों ही, नर्तकी रामा के घर की ओर उनकी नजर गयी।

रामा अपने रमणीक बैठक में बैठी (प्राचीन चीन के) दर्पण में मुँह देख रही थी। कंचन की चौकी पर रत्न का एक दीपक पास ही जल रहा था।

ब्राह्मण ने विचार किया—यदि किसी तरह इस नर्तकी के दर्पण में मैं अपना मुँह देख पाता !

आखिर आतुर गंगदत्तजी, विवेकहीन हो, दबे पाँव, नर्तकी के पीछे जा खड़े हुए और चोरों की तरह उन्होंने दर्पण में झाँका !

'अहो ! अहो ! धन्य ! धन्य !'—अपना नवस्वरूप देखते ही गंगदत्त पागलों की तरह प्रसन्नता से नाच और चिल्ला उठे।

नर्तकी रामा चौंक कर मारे भय के घिघियाने लगी—बचाओ ! चोर,

उचक्का !

सैकड़ों नागरिक जुट गये और विकल ब्राह्मण यज्ञोपवीत दिखा कर पिटते-पिटते बचा !

कुटी की ओर लौटते हुए गंगदत्त ने सोचा—बेशक मैं जवान हो गया। क्योंकि जवानी की पहली निशानी अविवेक मुझमें प्रकट हो गया ! नर्तकी के दर्पण में मैंने अपना मुँह देखा आतुर होकर—बचा पीठ की पूजा पाते-पाते ! वाह !

वाह ! —नवब्राह्मण ने सोचा—वेश्या वह युवती...? मेरी पत्नी भी अगर महाराज के दर्शन कर ले, तो वह भी इसी वेश्या-सी नवेली—आह ! —गंगदत्त का मुँह प्राचीन उच्छृङ्खल होने से पुनः विचका—मैं...ब्राह्मण अपनी पत्नी की समता वेश्या के यौवन से ! है न अविवेक ? वाह ! अब मैं जवान हो गया—बेशक !

और गंगदत्त का पूरा कुल एक ही जगह पर बसा हुआ था—उनकी कुटी के चौगिर्द। अधिक रात हो जाने के कारण सभी सो गये थे। ब्राह्मणों के घृत के दीपक भी बुझ चुके थे। ऐसे अवसर पर गंगदत्त चुपचाप अपनी झोपड़ी में घुसे।

'कौन... ?' —सजग ब्राह्मणी ने खाँस कर पूछा।

'मैं हूँ...सुन्दरी !' —निर्भय और प्रसन्न गंगदत्त ने कहा।

पति की आवाज पहचानते ही ब्राह्मणी ने अग्निहोत्र की आग से दीपक प्रज्वलित किया और देखा।

'अरे, ज्ञानदत्त ! पुत्र !' —देखते ही ब्राह्मणी बिगड़ी—'पापी ! इस रात में अपनी माता को तू 'सुन्दरी' पुकारते यहाँ आया है ? क्या तूने आज सुरा पी है ? निकल, तेरी कुटी उधर है...हायरे, मेरा ब्राह्मण रथ पर चढ़ कर कहाँ चला गया ?'

'मैं—मैं ही हूँ वह ब्राह्मण तुम्हारा सुन्दरी !' —गंगदत्त ने पुनः समझाना चाहा —'मैं जवान हो गया हूँ—राजर्षि के दर्शन कर। डरो मत। भागो मत ! मैं तुम्हारा पति हूँ।'

'बापरे ! दौड़ो रे !' —ब्राह्मणी अधिक अपमान न सह सकी—'बचाओ ! मेरा पुत्र पागल हो गया है ?'

और सारा कुल—अँधेरी रात में उल्काएँ हाथों में लिये—कुटी के चारों

ओर इकट्ठा हो गया !

भारी कोलाहल मचा—कौन लड़का है ? कौन ऐसा नालायक है ? मारो ! इसकी हत्या कर दो ! सभी झपटे अपने बेचारे ब्राह्मण बाप पर, उनके कायाकल्प से अज्ञात ।

अब गंगदत्त बड़े फेर में पड़े । किसी को उनकी बात पर एतबार ही न आया। उन्हीं के अनेक लड़के इस वक्त देखने में गंगदत्तजी के चचा मालूम पड़ते थे !

गंगदत्तजी ने एक-एक का नाम लेकर परिचय दिया । बहुत-सी घरेलू बातें बतायीं । यहाँ तक कि सारे कुल को उन्होंने अपने पीछे का एक बब्बा भी खोलकर दिखाया—मगर, फिर भी किसी ने विश्वास न किया ।

तब, मारे झुँझलाहट, खीझ और लाचारी के नौजवान गंगदत्त ब्राह्मण बालकों की तरह रो पड़े ।

'हाय रे ! जवानी लेकर मैंने कहाँ का पाप खरीदा...मेरी सारी शान्ति नष्ट हो गयी ।'

मगर, सारा कुल इतना क्षुब्ध हो उठा कि, अगर भाग न जाते तो गंगदत्तजी की हत्या उन्हीं के परिवार के लोग उस रात में जरूर कर देते !

गांगी...

उक्त घटना के कई दिनों बाद तक जब पण्डित गंगदत्तजी का कोई पता कुल-वालों को न लगा, तब ब्राह्मणी विकल हो उठी । उसने अपने पुत्रों को राजधानी में भेज कर मोहदत्त से पता लगाया, तो भेद सारा खुल गया ! अब मालूम हुआ गंगदत्त के कुल को कि उस रात में जो नवयुवक पिटते-पिटते बचा, उसकी बातें सच थीं । वह और कोई नहीं—पण्डित गंगदत्त स्वयं थे, जो राजाधिराज के दर्शन से युवक बन गये थे ।

अब तो सारे कुल में स्यापा छा गया ! ब्राह्मणी दहाड़ मार-मार कर रोने लगी । पति के अपमान से जो नरक उसे परलोक में भोगना पड़ेगा, उसकी कल्पना-मात्र से वह काँप-काँप उठी !

'आह !' —उसने सोचा—'पतिदेव इसलिए भाग गये कि बूढ़ी मैं उनके योग्य नहीं, बल्कि दुख का कारण हूँ । तो ? क्या मैं भी पर-पुरुष से आँखें मिला कर नवयुवती बनूँ और पतिदेव को सुखी करूँ, जो आर्या का परम धर्म है ? मगर

नहीं, पर-पुरुष की ओर मैं कदापि न देखूँगी। मैं. . . !'—गांगी गम्भीर हो सोचने लगी—'मैं तपस्विनी बनूँगी। पति के प्रसन्नतार्थ यौवन पाने के लिए माता गौरी पार्वती की तपस्या करूँगी।'

और ब्राह्मणी, दृढ़, दूसरे ही दिन, उठ भोर, सारी मोह-माया त्याग, तप करने हिमालय चली गयी।

और उसने ऐसी तपस्या की कि ऐसी तपस्विनी से माता पार्वती प्रसन्न हो प्रकट हो गयीं! उन्होंने ब्राह्मणी को फौरन युवती बना दिया!

फिर भी, यह सब करते-कराते ग्यारह महीने बीत ही गये। ग्यारह महीने बाद, जवान बनकर, गांगी एक रात, अपनी कुटी में लौट आयी और माता पार्वती के प्रसाद से, उसी रात, गांगी के पतिदेव भी पुनः झोपड़ी पर पधारे—

'गांगी! देवी! लो शंकर की तपस्या कर मैं फिर से बूढ़ा बनकर आ गया! तुम बूढ़ी—मैं बूढ़ा! प्रिये! हम में द्वैध अब नहीं—हम एकाकार हैं! आग लगे ऐसी कायाकल्पित नवजवानी में जिसके कारण मैं पिटते-पिटते, मरते-मरते बचा—अरे!'

इसी समय, कुटी के बाहर आती गांगी नवयौवना को गंगदत्त ने गौर से गुरेर कर ताका।

'कौन? ब्राह्मणी? क्या तू भी राजर्षि के दर्शन कर आयी?'

'हम स्त्रियाँ माता गौरी की कृपा से नवयौवन, जीवन, तन, मन, धन पाती हैं साजन!'

गौरी की कृपा से रसीली गांगी ने, शंकर के वरदान से सूखे गंगदत्त के हिलते हिमशीतल हाथों को प्रेम से पुलकित हो अपनी मृणाल-सी बाहु में लपेट लिया।

यशपाल

•

(जन्म १९०३ ई०)



श्री यशपाल का जन्म-स्थान पंजाब का फिरोजपुर जिला है। शिक्षा के लिए यह गुरुकुल काँगड़ी, डी० ए० वी० कालेज लाहौर तथा नेशनल कालेज लाहौर के विद्यार्थी रहे हैं। असहयोग-आन्दोलन के कारण इनकी शिक्षा भी आगे नहीं बढ़ सकी। देश-सेवा के व्रती यशपालजी ने अपने युवा-काल का प्रायः बहुत समय जेल में ही बिताया है। भारत-प्रसिद्ध एसेम्बली बम केस के भी यह अभियुक्त रहे हैं। जेल-जीवन का अवकाश आपके अध्ययन का अच्छा अवसर था।

विप्लवी यशपालजी क्रमशः मार्क्सवाद के प्रभाव में आये। उनके सम्पूर्ण साहित्य की पृष्ठभूमि में उसका प्रभाव प्रत्यक्ष है। वह ईमानदारी से सुलझे और सन्तुलित ढंग से अपने विचार अपनी कलाकृति में रख पाते हैं। बहुत थोड़े समय में उन्होंने जैसा उत्कृष्ट और अधिक साहित्य हिन्दी को दिया है, वैसा कम ही लोग दे पाते हैं।

है। तेरह बरस में पांच बच्चे हुए। पहले तीन लड़कियाँ और बाद में दो लड़के।

दूसरी लड़की होने को थी तो पीरबख्श की वालदा मदद के लिए आयी। वालिद साहब का इंतकाल हो चुका था। दूसरा कोई भाई वालदा की फ़िक्र करने आया नहीं; वे छोटे लड़के के यहाँ ही रहने लगीं।

जहाँ बाल-बच्चे और घर-बार होता है, सौ किस्म की झंझटें होती ही हैं। कभी बच्चे को तकलीफ़ है, तो कभी ज़च्चा को। ऐसे वक्त में कर्ज़ की ज़रूरत कैसे न हो? घर-बार हो, तो कर्ज़ भी होगा ही।

मिल की नौकरी का कायदा पक्का होता है। हर महीने की सात तारीख को गिनकर तनख्वाह मिल जाती है। पेशगी से मालिक को चिढ़ है। कभी बहुत ज़रूरत पर ही मेहरबानी करते। ज़रूरत पड़ने पर चौधरी घर की कोई छोटी-मोटी चीज़ गिरवी रखकर उधार ले आते। गिरवी रखने से रुपये के बारह आने ही मिलते। ब्याज मिलाकर सोलह आने हो जाते और फिर चीज़ के घर लौट आने की सम्भावना न रहती।

मुहल्ले में चौधरी पीरबख्श की इज्जत थी। इज्ज़त का आधार था, घर के दरवाज़े पर लटका पर्दा। भीतर जो हो, पर्दा सलामत रहता। कभी बच्चों की खींच-खाँच या बेदर्द हवा के झोंकों से उसमें छेद हो जाते, तो परदे की आड़ से हाथ सुई-धागा ले उसकी मरम्मत कर देते।

दिनों का खेल! मकान की ड्योढ़ी के किवाड़ गलते-गलते बिलकुल गल गये। कई दफ़े कसे जाने से पेच टूट गये और सुराख ढीले पड़ गये। मकान मालिक सुरजू पांडे को उसकी फ़िक्र न थी। चौधरी कभी जाकर कहते-सुनते तो उत्तर मिलता—"कौन बड़ी रकम थमा देते हो? दो रुपल्ली किराया और वह भी छः-छः महीने का बकाया। जानते हो लकड़ी का क्या भाव है। न हो मकान छोड़ जाओ।" आखिर किवाड़ गिर गये। रात में चौधरी उन्हें जैसे-तैसे चौखट से टिका देते। रात-भर दहशत रहती कि कहीं कोई चोर न आ जाये।

मुहल्ले में सफ़ेदपोशी और इज्ज़त होने पर भी चोर के लिए घर में कुछ न था। शायद एक भी साबित कपड़ा या बरतन ले जाने के लिए चोर को न मिलता; पर चोर तो चोर है। छिनने के लिए कुछ न हो, तो भी चोर का डर तो होता ही है। वह चोर जो ठहरा!

चोर से ज्यादा फ़िक्र थी आबरू की। किवाड़ न रहने पर पर्दा ही आबरू का

रखवारा था। वह परदा भी तार-तार होते-होते एक रात आँधी में किसी भी हालत में लटकने लायक न रह गया। दूसरे दिन घर की एकमात्र पुश्तैनी चीज़ दरी दरवाज़े पर लटक गयी। मुहल्लेवालों ने देखा और चौधरी को सलाह दी—'अरे चौधरी, इस ज़माने में दरी यों काहे खराब करोगे? बाज़ार से ला टाट का टुकड़ा न लटका दो!' पीरबख्श टाट की कीमत भी आते-जाते कई दफ़े पूछ चुके थे। दो गज़ टाट आठ आने से कम में न मिल सकता था। हँसकर बोले—"होने दो क्या है? हमारे यहाँ पक्की हवेली में भी ड्योढ़ी पर दरी का ही पर्दा रहता था।"

कपड़े की महँगी के इस ज़माने में घर की पाँचों औरतों के शरीर से कपड़े जीर्ण होकर यों गिर रहे थे, जैसे पेड़ अपनी छाल बदलते हैं; पर चौधरी साहब की आमदनी से दिन में एक दफ़े किसी तरह पेट भर सकने के लिए आटा के अलावा कपड़े की गुंजाइश कहाँ? खुद उन्हें नौकरी पर जाना होता। पायजामे में जब पैवन्द सँभालने की ताब न रही, मारकीन का एक कुर्ता-पायजामा ज़रूरी हो गया, पर लाचार थे।

गिरवी रखने के लिए घर में जब कुछ भी न हो, गरीब का एकमात्र सहायक है पंजाबी खान। रहने की जगह-भर देखकर वह रुपया उधार दे सकता है। दस महीने पहले गोद के लड़के बर्कत के जन्म के समय पीरबख्श को रुपये की ज़रूरत आ पड़ी। कहीं और कोई प्रबन्ध न हो सकने के कारण उन्होंने पंजाबी खान बबर अलीखाँ से चार रुपये उधार,ले लिये थे।

बबर अलीखाँ का रोज़गार सितवा के उस कच्चे मुहल्ले में अच्छा-खासा चलता था। बीकानेरी मोची, वर्कशाप के मज़दूर और कभी-कभी रमजानी धोबी सभी बबर मियाँ से कर्ज लेते रहते। कई दफे चौधरी पीरबख्श ने बबर अली को कर्ज़ और सूद की किश्त न मिलने पर अपने हाथ के डंडे से ऋणी का दरवाजा पीटते देखा था। उन्हें साहूकार और ऋणी में बीच-बचौवल भी करना पड़ा था। खान को वे शैतान समझते थे, लेकिन लाचार हो जाने पर उसी की शरण लेनी पड़ी। चार आना रुपया महीने पर चार रुपया कर्ज़ लिया। शरीफ़ खानदानी, मुसलमान भाई का ख्याल कर बबरअली ने एक रुपया माहवार की किश्त मान ली। आठ महीने में कर्ज़ अदा होना तय हुआ।

खान की किश्त न दे सकने की हालत में अपने घर के दरवाजे पर फज़ीहत हो जाने की बात का ख्याल कर चौधरी के रोएँ खड़े हो जाते। सात महीने फ़ाका

वे मुआफ़ी के लिए खुशामद करने लगे ।

खान की तेज़ी बढ़ गयी। उसके ऊँचे स्वर से पड़ोस के मोची और मज़दूर चौधरी के दरवाज़े के सामने इकट्ठे हो गये। खान क्रोध में डंडा फटकारकर कह रहा था—"पैसा नहीं देना था, लिया क्यों? तनख्वाह किदर में जाता? अरामी अमारा पैसा मारेगा। अम तुमारा खाल खींच लेगा। पैसा नई है, तो घर पर परदा लटका के शरीफ़ज़ादा कैसे बनता? . . . तुम अमको बीबी का गैना दो, बर्तन दो, कुछ तो भी दो, अम ऐसे नई जायेगा।"

बिलकुल बेबस और लाचारी में दोनों हाथ उठा खुदा से खान के लिए दुआ माँग पीरबख्श ने कसम खायी, एक पैसा भी घर में नहीं, बर्तन भी नहीं, कपड़ा भी नहीं; खान चाहे तो बेशक उसकी खाल उतारकर बेच ले।

खान और आग हो गया—"अम तुमारा दुआ क्या करेगा? तुमारा खाल क्या करेगा? उसका तो जूता भी नई बनेगा। तुमारा खाल से तो यह टाट अच्छा।" खान ने ड्योढ़ी पर लटका दरी का पर्दा झटक लिया। ड्योढ़ी से परदा हटने के साथ ही, जैसे चौधरी के जीवन की डोर टूट गयी। वह डगमगाकर ज़मीन पर गिर पड़े।

इस दृश्य को देख सकने की ताब चौधरी में न थी, परन्तु द्वार पर खड़ी भीड़ ने देखा—घर की लड़कियाँ और औरतें परदे के दूसरी ओर घटती घटना के आतंक से आँगन के बीचों-बीच इकट्ठी हो खड़ी काँप रही थीं। सहसा परदा हट जाने से औरतें ऐसे सिकुड़ गयीं, जैसे उनके शरीर का वस्त्र खींच लिया गया हो। वह परदा ही तो घर-भर की औरतों के शरीर का वस्त्र था। उनके शरीर पर बचे चीथड़े उनके एक-तिहाई अंग ढँकने में भी असमर्थ थे!

जाहिल भीड़ ने घृणा और शरम से आँखें फेर लीं। उस नग्नता की झलक से खान की कठोरता भी पिघल गयी। ग्लानि से थूक, परदे को आँगन में वापिस फेंक, क्रुद्ध निराशा में उसने "लाहौल विला. . .!" कहा और असफल लौट गया।

भय से चीखकर ओट में हो जाने के लिए भागती हुई औरतों पर दया कर भीड़ छँट गयी। चौधरी बेसुध पड़े थे। जब उन्हें होश आया, ड्योढ़ी का परदा आँगन में सामने पड़ा था; परन्तु उसे उठाकर फिर से लटका देने का सामर्थ्य उनमें शेष न था। शायद अब इसकी आवश्यकता भी न रही थी। परदा जिस भावना का अवलम्ब था, वह मर चुकी थी।

इलाचन्द्र जोशी

(जन्म १९०२ ई०)



अल्मोड़े के प्रतिष्ठित ब्राह्मण जोशी परिवार में आपका जन्म हुआ। वहीं के हाई स्कूल में आपने शिक्षा पायी और घर पर हिन्दी, संस्कृत, बँगला और अंग्रेजी का अध्ययन आपने किया। अपनी रुचि तथा बड़े भाई डा० हेमचन्द्र जी जोशी के संसर्ग से आपने फ्रेंच और जर्मन भाषाएँ भी सीखीं। आपका विदेशी भाषाओं के मान्य लेखकों के साहित्य का अध्ययन बहुत ही अच्छा है। आप उत्तम श्रेणी के कवि, कथाकार, निबन्ध-लेखक और आलोचक माने जाते हैं। प्रारम्भ में आप अपने सहपाठियों के सहयोग से हस्तलिखित पत्रिका निकालते थे और उसके लिए कहानी और कविता लिखते थे। वही चाव आगे चलकर पल्लवित हुआ। कविता, कहानी, आलोचना और उपन्यास सभी विषयों पर आपकी पुस्तकें प्रकाशित हुईं। आप अच्छे पत्र-सम्पादक भी हैं। 'विश्वमित्र' का सम्पादन आपने योग्यतापूर्वक किया है।

रेल की रात

गाड़ी आने के समय से बहुत पहले ही महेन्द्र स्टेशन पर जा पहुँचा था। उसे गाड़ी के पहुँचने का ठीक समय मालूम न हो, यह बात नहीं कही जा सकती। पर जिस छोटे शहर में वह आया हुआ था, वहाँ से जल्दी भागने के लिए वह ऐसा उत्सुक हो उठा था कि जान-बूझ कर भी अज्ञात मन से शायद किसी अबोध बालक की तरह वह समझा था कि उसके जल्दी स्टेशन पर पहुँचने से सम्भवत: गाड़ी भी नियत समय से पहले ही आ जायगी।

होल्ड-आल में बँधे हुए बिस्तरे और चमड़े के एक पुराने सूटकेस को प्लेटफार्म के एक कोने पर रखवा कर वह चिन्तित तथा अस्थिर-सा अन्यमनस्क भाव से टहलते हुए टिकट-घर की खिड़की के खुलने का इन्तजार करने लगा।

महेन्द्र की आयु बत्तीस-तैंतीस वर्ष के लगभग होगी। उसके कद की ऊँचाई साढ़े पाँच फ़ीट से कम नहीं मालूम होती थी। उसके शरीर का गठन देखने से उसे दुबला तो नहीं कहा जा सकता, तथापि मोटा वह नाम को भी न था। रंग उसका गेहुँआ था। कपाल कुछ चौड़ा, भौंहें कुछ मोटी, किन्तु तनी हुई; आँखें छोटी, पर लम्बी, काली मूँछें घनी; पर पतली और दोनों सिरों पर कुछ ऊपर को उठी थीं। वह खद्दर का एक लम्बा कुरता और खद्दर की धोती पहने था। सिर पर टोपी नहीं थी। पाँवों में घड़ियाल के चमड़े के बने हुए चप्पल थे। उसके व्यक्तित्व में आकर्षण अवश्य था; पर वह आकर्षण सब समय सब व्यक्तियों की दृष्टि को अपनी ओर नहीं खींचता था।

सूरज बहुत पहले डूब चुका था और शुक्लपक्ष का अपूर्ण गोलाकार चन्द्रमा अपने किरण-जाल से दिग-दिगन्त को स्निग्ध आलोक-छटा से विभासित करने लगा था। स्टेशन में अधिक भीड़ न थी। प्लेटफार्म पर टहलते-टहलते पूर्व की ओर चार कदम निकल जाने पर ऐसा मालूम होने लगता था कि चाँदनी दीर्घ-विस्तृत समतल-भूमि पर अलस क्लान्ति की तरह पड़ी हुई है। झिल्ली-झनकार का एकान्तिक मर्मर-स्वर इस अलसता की वेदना को निर्मम भाव से जगा रहा था, जिससे महेन्द्र के हृदय की सुप्त व्याकुलता तिलमिला उठती थी।

सिगनल डाउन हो गया था। टिकट-घर खुल गया था। थर्ड क्लास का टिकट खरीद कर महेन्द्र गाड़ी का इन्तजार करने लगा। दूर से ही सर्चलाइट के प्रखर प्रकाश से तिमिर-विदारण करती हुई गाड़ी थोड़ी देर में दिखाई दी और भकभक करती हुई स्टेशन पर आ खड़ी हुई।

सामने के कम्पार्टमेण्ट में केवल दो व्यक्ति बैठे थे और वे भी उतरने की तैयारी कर रहे थे। महेन्द्र एक हाथ में बिस्तर की गठरी और दूसरे हाथ में सूटकेस पकड़ कर उसी में जा घुसा। जो दो व्यक्ति कम्पार्टमेण्ट में थे, उनके उतरते ही एक चश्मा-धारी सज्जन ने दो महिलाओं के साथ भीतर प्रवेश किया। कुली ने आकर नवागन्तुक महाशय का सामान भीतर रख दिया और मजूरी के सम्बन्ध में काफी हुज्जत करने के बाद पैसे लेकर चला गया। चश्माधारी सज्जन महिलाओं के साथ महेन्द्र के सामने वाले बेञ्च पर बड़े आराम से बैठ गये। मालूम होता था कि वह बड़ी हड़बड़ी के साथ गाड़ी आने के कुछ ही समय पहले स्टेशन पहुँचे थे और घबराहट में थे कि महिलाओं को साथ लेकर यदि किसी कम्पार्टमेण्ट में जगह न मिली तो क्या हाल होगा। वह अभी तक हाँफ रहे थे, जिससे उनकी अब तक की परेशानी स्पष्ट व्यक्त होती थी। अब जब आराम से बैठने को खाली जगह मिल गयी, तो एक लम्बी साँस लेकर चश्मा उतार कर रूमाल से मुँह का पसीना पोंछने लगे। पसीना पोंछते-पोंछते महेन्द्र की ओर देखकर उन्होंने प्रश्न किया—शिकोहाबाद कै बजे गाड़ी पहुँचेगी, आप बता सकते हैं ?

महेन्द्र ने उत्तर दिया—जहाँ तक मेरा ख्याल है, बारह बजे के करीब पहुँचेगी।

महेन्द्र कनखियों से महिलाओं की ओर देख रहा था। महिलाएँ उसके एकदम सामने बैठी थीं और यदि वह दृष्टि सीधी करके स्वाभाविक रूप से उन्हें देखता रहता, तो भी शायद न तो चश्माधारी सज्जन को और न महिलाओं को कोई आपत्ति होती; पर उसे अपनी स्वाभाविक संकोच-शीलता के कारण उनकी ओर स्थिर दृष्टि से देखने का साहस नहीं होता था। दोनों महिलाएँ बेपर्दा बैठी थीं। उनमें एक की अवस्था प्रायः पैंतीस वर्ष की होगी, वह एक सफेद चादर ओढ़े थी। दूसरी बाईस-तेईस वर्ष की जान पड़ती थी। वह एक गुलाबी रंग की एक सुन्दर, सुरुचिपूर्ण साड़ी पहने थी। दोनों यथेष्ट सभ्य और सुशील जान पड़ती थीं। ज्येष्ठा को देखने से ऐसा अनुमान लगाया जा सकता था कि किसी समय वह सुन्दरी रही होगी; पर अब अस्वस्थता के कारण उसका मुखमण्डल बिलकुल निस्तेज जान

पड़ता था। कनिष्ठा यद्यपि सौन्दर्य-कला की दृष्टि से सुन्दरी नहीं थी, तथापि उसके मुख की व्यञ्जना में एक ऐसी सरस मधुरिमा वर्तमान थी, जो बरबस आँखों को आकर्षित कर लेती थी।

आज कई कारणों से महेन्द्र का जी दिन-भर अच्छा नहीं रहा। गाड़ी में बैठने तक वह चिन्तित, अन्यमनस्क तथा उदास था; पर गाड़ी में बैठते ही शिष्ट, सुशील तथा सुन्दरी महिलाओं के साहचर्य से उसके खिन्न मन में एक सुखद सरसता छा गयी। यद्यपि वह संकोच के कारण कुछ कम घबराया हुआ न था, तथापि चश्माधारी सज्जन की भोली आकृति-प्रकृति तथा सरल भाव-भंगियों से और महिलाओं की शालीनता से उसे इस बात पर धीरे-धीरे विश्वास होने लगा था कि उनके बीच किसी प्रकार का संकोच अनावश्यक ही नहीं, बल्कि अशोभन भी है।

चश्माधारी सज्जन ने चश्मा उतारकर एक रूमाल से उसे पोंछते हुए पूछा—आप क्या शिकोहाबाद जा रहे हैं?

जी नहीं, मैं दिल्ली जा रहा हूँ। आप क्या शिकोहाबाद में ही रहते हैं?

जी नहीं, मुझे टूँडला जाना है। मैं वहाँ कोर्ट में प्रेक्टिस करता हूँ। इधर कुछ दिनों के लिए घर आया हुआ था। अब अपनी 'वाइफ' को और 'सिस्टर' को लेकर वापिस जा रहा हूँ—'सिस्टर' की तबीयत ठीक नहीं रहती, इसलिए उसे हवा बदली के लिए ले जा रहा हूँ।

एक साधारण-से प्रश्न के उत्तर में इतनी बातों से परिचित होने पर महेन्द्र को नव-परिचित सज्जन की बेतकल्लुफी पर आश्चर्य हुआ और वह मन-ही-मन मुस्कराने लगा। उसने अनुमान लगाया कि ज्येष्ठा महिला उनकी 'सिस्टर' होगी और कनिष्ठा 'वाइफ'।

थोड़ी देर में गाड़ी चलने लगी। कोई दूसरा यात्री उस डिब्बे में न आया। चश्माधारी महाशय गाड़ी चलने के कुछ ही देर बाद ऊँघने लगे। वे रह न सके और बँधे हुए बिस्तर को तकिया बना कर एक दूसरे बेंञ्च पर लेट गये और लेटते ही खर्राटे लेने लगे। न जाने क्यों, महेन्द्र के मन में यह विश्वास जम गया कि इस नव-परिचित महाशय का जीवन बड़ा सुखी है। उनकी बेतकल्लुफी तथा उनके मुख का आत्मसन्तोषपूर्ण भाव देख कर उसके मन में यह विश्वास जमने लगा था और जब उसने उन्हें निश्चिन्त सोते हुए तथा खर्राटे भरते देखा, तो उसकी यह धारणा दृढ़ हो गयी।

ज्येष्ठा महिला ने भी थोड़ी देर में ऊँघना शुरू कर दिया। वह ऊँघती जाती थी और बीच-बीच में जब जबर्दस्त हिचकोला खाती थी, तो वह जाग पड़ती थी। केवल कनिष्ठा महिला पूर्णतः सजग थी। वह कभी खिड़की से बाहर झाँक कर चाँदनी के उज्ज्वल आलोक में शायद 'पल-पल परिवर्तित' प्राकृतिक दृश्यों का आनन्द लेती थी, कभी ऊँघनेवाली महिला की ओर देखती थी, कभी खर्राटे भरनेवाले महाशय (शायद अपने पति) को एक बार सरसरी निगाह से देख लेती थी और कभी महेन्द्र को स्निग्ध, किन्तु विस्मय की उत्सुकतापूर्ण आँखों से देखने लगती थी। उन आँखों की स्थिर दृष्टि जब महेन्द्र पर आकर पड़ती थी, तो उसे ऐसा मालूम होने लगता कि वह मोहाविष्ट हुआ जा रहा है और उसकी सारी आत्मा, यहाँ तक कि सारा शरीर भी अपना रूप बदल रहा है और वह किसी अव्यक्त तथा अतीन्द्रिय मायावी स्पर्श से कुछ-का-कुछ हुआ जा रहा है। वह उस स्थिर दृष्टि का तेज सहन न कर सकने के कारण आँखें फिरा लेता था।

गाड़ी टटर-टट्ट टटर-टट्ट शब्द से चली जा रही थी। जाग्रत महिला की गुलाबी साड़ी का अञ्चल हवा के झोंके से सिर से नीचे खिसककर उसके लहराते हुए घनकुञ्चित काले केशों की बहार दिखा रहा था। गुलाबी साड़ी भी हवा के जोर से फर-फर फहरा रही थी। महेन्द्र पूर्ण जाग्रत अवस्था में स्वप्न देखने लगा। उसे यह भ्रम होने लगा कि यह महिला, जो इस समय के पहले उसके लिए एकदम अज्ञात थी और निश्चय ही सदा अज्ञात रहेगी, न जाने किस चिदानन्दमय उल्का-लोक से अकस्मात् आविर्भूत होकर उसके पास आ बैठी है और गुलाबी रंग की पताका फहरा कर विश्व-विजय को निकली है और वह उसका सारथी बन कर उस अनन्तगामी रेल-रूपी रथ पर चला जा रहा है। सारा विश्व, समस्त मानवी तथा मानसी सृष्टि उसके लिए उस कम्पार्टमेण्ट के भीतर समा गयी थी, जिसमें ऊँघनेवाली महिला तथा सोये हुए सज्जन का कोई अस्तित्व नहीं था, और उसके बाहर क्षण-क्षण में परिवर्तित होने वाले अस्थिर माया-जगत् का चिर-चञ्चल रूप एकदम असत्य तथा सत्ताहीन-सा लगता था।

महेन्द्र सोचने लगा कि उसने जीवन में कितनी ही स्त्रियों को विभिन्न रूपों तथा विचित्र परिस्थितियों में देखा है; पर आज का यह बिलकुल साधारण-सा अनुभव उसे क्यों ऐसा अपूर्व तथा अनुपम लग रहा है? वह सोच ही रहा था कि फिर उस विश्व-विजयिनी ने अपनी सुन्दर विस्मित आँखों की रहस्यमयी उत्सुकता,

हो गयी है।'

'वह कैसे ?'

इस प्रश्न के उत्तर में महेन्द्र ने परम क्लान्ति का भाव दिखाते हुए कहा—अरे साहब, सुन के क्या कीजिएगा ! व्यर्थ में आपके संस्कारों को आघात पहुँचेगा। इस चर्चा को हटाइए। और किसी अच्छे विषय की चर्चा चलाइए।

स्वभावतः चश्माधारी सज्जन का कौतूहल बढ़ा। उन्होंने आग्रह के साथ कहा—फिर भी जरा सुनें तो सही। आखिर कौन-सी ऐसी बात हो गयी।

महेन्द्र की सुप्त स्मृतियाँ तलमला उठी थीं। कनखियों से उसने देखा, प्रायः अन्धकार में बैठी हुई मायाविनी महिला का ध्यान उसी की ओर था। पल में उसके मानसिक चक्षुओं के आगे उसके सारे विगत जीवन की व्यर्थता के दुःखद संस्मरणों की झाँकी चित्रपट पर क्रम से परिवर्तित होने वाले चित्रों की तरह भासमान होने लगी। भाव के आवेग में आकर उसने कहा—अच्छा, तो सुनिए ! ग्यारह वर्ष की उम्र से लेकर तीस वर्ष की अवस्था तक कांग्रेस के सिद्धान्तों के पीछे पागल होकर उनकी खातिर अपने जीवन और यौवन की बलि देकर भी मैं कांग्रेस के देवताओं को कभी प्रसन्न न कर सका, यह मेरे भाग्य का दोष है। फिर मैं भी सोचता हूँ कि क्या इन देवताओं को इतना निर्मम होना चाहिए था ! मैंने कांग्रेस के लिए क्या नहीं किया ! भूखों रह कर, पग-पग पर ठोकरें खाकर, समाज तथा परिवार की फटकारें सह कर, जीवन के सब सुखों को अपने ध्येय के लिए तिलाञ्जलि देकर, राष्ट्रीय आदर्श को ब्रह्मतत्त्व से भी अधिक महत्त्व देकर सच्ची लगन से अपनी सारी आत्मा को निमज्जित करके कांग्रेस का साथ दिया। तीन बार काफी अवधि के लिए जेल में सड़ता रहा। बार-बार पुलिस के डण्डे सिर पर पड़ते रहे। जमीन-जायदाद कुर्क हो गयी। माता-पिता अपनी कपूत सन्तान के कारण तबाह होकर मानसिक और शारीरिक पीड़न की पराकाष्ठा भोगकर चल बसे। पत्नी तड़प-तड़प कर, घुल-घुल कर अपने भाग्य को कोसती हुई मर गयी। फिर भी मैं राष्ट्र के कल्याण के परम ध्येय को स्त्री, परिवार, आत्मा और परमात्मा से बहुत ऊँचा मानता हुआ सच्ची लगन से कांग्रेस का अनुयायी बना रहा। मेरी आँखें तब खुलीं, जब अन्तिम बार जेलखाने में लम्बी मियाद पूरी करने के बाद थका-माँदा, मन से तथा शरीर से क्लिष्ट और क्लान्त होकर मैं बाहर आया और देखा कि जिन नेताओं के नीचे मैंने अपनी सारी आत्मा का रस निचोड़-निचोड़ कर देश-हित के व्रत की कठोर

साधना की थी, वे मेरे प्रति एकदम उदासीन हो गये थे और स्वयं अपने सांसारिक स्वार्थ तथा परमार्थ की रक्षा का पूरा प्रबन्ध करते हुए, सच्चे कार्यकर्त्ताओं के रक्त और पसीने से अर्जित यश को लूट कर, त्यागी महात्मा की पदवी प्राप्त करके, परम प्रसन्न थे। अपने विगत जीवन की भयंकर भूल मुझे निर्मम रूप से दग्ध करने लगी; पर अब उसके प्रतिकार का कोई उपाय नहीं था। एक-एक करके उन स्नेही जनों की स्मृतियाँ मेरे मन में उदित हो-होकर व्यथित करने लगीं, जिनकी मैं सदा अवज्ञा करता आया था। अपनी पत्नी से मैंने जीवन में शायद दो दिन भी घनिष्ठता से बातें न की होंगी। जब मैं बाहर रहता था, तो उसके पत्र बराबर मेरे पास आते रहते थे, और मैं सरसरी दृष्टि से उन्हें पढ़कर अवज्ञा से फाड़ कर फेंक देता था। एक या दो बार से अधिक मैंने उसके पत्रों का उत्तर नहीं दिया और दो बार जो उत्तर दिया था, वह भी चार पंक्तियों में बिलकुल रूखे-सूखे ढंग से। अब जब मैं अपने को सारे संसार में अकेला, स्नेह तथा समवेदना से वंचित, असहाय तथा निरुपाय मालूम करने लगा, तो उसकी भोली-भाली, सकरुण, स्नेह की वेदना से भरी, सहज सलोनी मूर्ति प्रतिपल मेरी आँखों के आगे भासित होने लगी। उसके पत्रों में सरल शब्दों में वर्णित कातर व्याकुलता के हाहाकार की पुकार मानो मेरी स्मृति के अतुल गह्वर में दीर्घ सुप्ति की घोर जड़ता के बाद अकस्मात् जागरित होकर मेरे हृदय पर जलते हुए अंगारों के गोलों से आघात करने लगी। अपने जीवन में मैं कभी किसी बात पर नहीं रोया था। माता-पिता तथा पत्नी, किसी की मृत्यु पर एक बूँद आँसू की मेरी आँखों से न निकली थी; पर अब रह-रहकर उन लोगों की याद में बिलख-बिलख कर मैं बार-बार रो पड़ता। मुझे ऐसा भास होने लगा कि आज तक मैं वास्तविक सुख-दुःखमय संसार में रहते हुए किसी भौतिक जगत् में विचरण किया करता था। अध्यात्मवादी वैज्ञानिक लोग कहा करते हैं कि इस दृश्य-जगत् के भीतर ही ऐसे अनेक अदृश्य स्तर वर्तमान हैं, जिनमें विभिन्न योनियों के जीव निवास करते हैं। ये दृश्य-जीव रात-दिन हमारे ही बीच में विचरण करते रहते हैं और उनके शरीर भी हाड़-मांस से बने हुए हैं, फिर भी वे हमारे स्पर्श-संघर्ष में इसलिए नहीं आते कि उनके और हमारे स्तरों में विभिन्नता है। पहले मुझे भी ऐसा जान पड़ता था कि मैं जिस स्तर में निवास करता हूँ वह मेरे पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन के स्तर से बिलकुल अलग है और वहाँ के जीवों से मेरा बिलकुल भी सरोकार नहीं है; पर जब कारावास की अन्तिम अवधि

के बाद मैं बाहर निकला, तो मुझे ऐसा जान पड़ने लगा कि किसी ने मुझे अत्यन्त निर्ममता से उस चिर-विस्मृति-स्तर में ढकेल दिया है और अपने पारिवारिक जीवन की सब स्मृतियाँ पूर्वजन्म की-सी स्मृतियों की तरह जागरितहो कर मुझे एक निराले ही पीड़न का अनुभव कराने लगी हैं। राष्ट्रगत जीवन के अस्पष्ट तथा धुँधले नीहारिका-पुञ्ज का रहस्यमय आवरण भेद कर मेरी स्नेहशीला, पति-परायणा पत्नी की सकरुण पुण्यच्छवि उज्ज्वल नक्षत्र की तरह मेरी आँखों के आगे स्पष्ट भासमान होने लगी। रह-रह कर मेरा जी विकल हो उठता था और मुझे ऐसा प्रतीत होने लगता जैसे मेरे हृदय में किसी के निष्कलंक सुकुमार प्राणों की पैशाचिक हत्या का अपराध पाषाण-भार की तरह पड़ा हो। बहुत दिनों तक इस नृशंस अपराध की भयंकर अनुभूति का भूत मेरी आत्मा को अत्यन्त निष्ठुरता से दबाता रहा। अब भी यह भौतिक आतंक कभी-कभी मेरे मन में जागरित हो उठता है। फिर भी अब मैंने अपने मन को बहुत-कुछ समझा लिया है और जीवन को मैं एक नयी दृष्टि से नये रूप में देखने लगा हूँ और साधारण-से-साधारण घटना भी कभी-कभी मेरे मन में एक अलौकिक आनन्द का आश्चर्य उत्पन्न करने लगती है। किसी स्त्री को देखते ही अब मेरे हृदय में एक श्रद्धापूर्ण उत्सुकता का भाव जाग पड़ता है—ऐसा मालूम होने लगता है, जैसे मैंने जीवन में पहले कभी स्त्री को देखा भी न हो और अब पहली बार इस आनन्ददायिनी रहस्यमयी जाति के अस्तित्व का अनुभव मुझे हुआ हो।

महेन्द्र का लम्बा लेक्चर समाप्त होते ही चश्माधारी सज्जन 'हा: हा:' कर के ठठा कर हँसते हुए बोले—'आप भी बड़े मजे के आदमी हैं। खूब!'—यह कह कर वह बेंच पर आराम से लेट गये और उन्होंने आँखें बन्द कर लीं। थोड़ी देर बाद वह जोरों से खर्राटे लेने लगे।

एक लम्बी साँस लेते हुए महेन्द्र ने प्राय: अन्धकार में अस्पष्ट झलकती हुई गुलाबी साड़ी की ओर देखा। दो आँखों की मार्मिक दृष्टि की तीव्र मोहकता उस अर्द्ध-अन्धकार में भी विस्मित वेदना की उत्सुक उज्ज्वल रेखाओं को विकीरित कर रही थी। महेन्द्र पुलक-विह्वल होकर मन्त्र-मुग्ध-सा बैठा रहा।

घण्टी बजी, दिल्ली को जाने वाली गाड़ी के आने की सूचना देते हुए सिगनल डाउन हुआ। सामने रक्त-आकाश-दीप के बदले हरे रंग का प्रकाश जल उठा। यह हरित आलोक महेन्द्र के मानस-पट में साड़ी के गुलाबी रंग के साथ मिलकर

एक स्निग्ध शुचि सौन्दर्य-लोक का सृजन करने लगा।

थोड़ी देर में दूर ही से गाड़ी का सर्च-लाइट दिखाई दिया। चश्माधारी महाशय महेन्द्र के जगाने पर फड़फड़ाते हुए उठे। कुलियों ने सामान सँभाल लिया। भक-भक करती हुई गाड़ी प्लेटफार्म पर आ लगी। बड़ी भीड़ थी। चश्माधारी सज्जन को महिलाओं के साथ कुली लोग इंजिन की उलटी ओर बहुत दूर तक ले गये। कहीं स्थान न पाकर अन्त में एक डिब्बे में जबरदस्ती घुस गये। महेन्द्र भी उन लोगों के साथ-साथ जा रहा था; पर जिस डिब्बे में वे लोग घुसे, उस डिब्बे में स्थान का निपट अभाव देख कर वह विवश होकर एक दूसरे डिब्बे में चला गया। वहाँ भी काफी भीड़ थी। किसी प्रकार उसने अपने बैठने के लिए थोड़ा-सा स्थान बनाया।

गार्ड ने सीटी दी। गाड़ी चल पड़ी। महेन्द्र के मस्तिष्क में नाना अस्पष्ट भावनाएँ चक्कर लगाने लगीं। दो दिन से उसे नींद नहीं आयी थी। आज भी वह अभी तक सो नहीं पाया; इसलिए सोचते-सोचते वह ऊँघने लगा। ऊँघते हुए उसने देखा कि गुलाबी रंग की साड़ी द्रौपदी के चीर की तरह फैलती हुई अकारण सारे आकाश में छा गयी है। सहसा दो स्थानों पर वह गगनव्यापी साड़ी फटी और उन दो छिद्रों से होकर दो वेदनाशील, तीक्ष्ण, उज्ज्वल आँखें तीर की तरह प्रखर वेग से उसकी ओर धावित होकर एक रूप में मिल कर एक बड़ी आँख के आकार में परिणत हो गयी। वह बड़ी आँख उसके शरीर को छेद कर उसके हृत्पिण्ड को छूकर फिर ऊपर आकाश की ओर तीर की तरह छूटी और आकाश में फैली हुई गुलाबी साड़ी में जा लगी और फटकर फिर से दो सुन्दर, किन्तु करुणा-विकल आँखों के आकार में विभक्त हो गयी।

टूँडला स्टेशन पर गाड़ी ठहरने पर महेन्द्र पूर्णतः सचेत होकर बैठ गया। चश्माधारी महाशय दोनों महिलाओं को साथ लेकर कम्पार्टमेण्ट से बाहर उतरे और सामान को कुलियों के हवाले करके उनके साथ बाहर फाटक की ओर चले। महेन्द्र ने अपने कम्पार्टमेण्ट से अपनी विश्व-विजयिनी को देखा। वह इस उत्सुकता में था कि एक बार अन्तिम समय के लिए दोनों की चार आँखें हो जावें; पर न हुई और गुलाबी साड़ी से आवृत्त सजीव प्रतिमा व्यस्त विह्वलता से आगे को निकल गयी।

टूँडला से गाड़ी छूटने पर महेन्द्र के कानों में चश्माधारी सज्जन के ठठा कर,

हँसने का शब्द गूँजने लगा। उससे अदृष्ट की चिर-व्यंग-पुकार मानो वार-बार कहती थी —हाः हाः ! आप भी वड़े मजे के आदमी हैं। खूब !

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

(जन्म—१८९९ ई०)



वाजपेयीजी का जन्म कानपुर के एक साधारण ब्राह्मण-परिवार में हुआ। आपने हिन्दी मिडिल तक शिक्षा पायी। मिडिल पास करने के बाद आप अपने गाँव की ही अपर प्राइमरी पाठशाला में अध्यापक हो गये; परन्तु आपको इस जीवन से सन्तोष नहीं था, इसलिए कानपुर चले गये। वहाँ होमरूल लीग की लाइब्रेरी में लाइब्रेरियन हो गये। इसी समय इन्हें हिन्दी-साहित्य का अध्ययन करने का अवसर मिला और लिखने की प्रेरणा भी उत्पन्न हुई। यह १९१७ की बात है। उस समय प्रायः आप कविताएँ लिखा करते थे। फिर जीवन के कटु अनुभवों ने आपको गद्य में लिखने के लिए प्रेरित किया। १९२४ में पहली कहानी 'माधुरी' में छपी। अब तक लगभग तीन सौ कहानियाँ, १० उपन्यास, एक नाटक तथा १५ विविध-विषयक अन्य छोटी-मोटी पुस्तकें लिख चुके हैं। आपकी कविताओं का एक संग्रह भी हाल में प्रकाशित हुआ है। चोटी के कहानी-लेखकों में आपका अपना स्थान है। आपकी शैली से प्रभावित आज दिन हिन्दी के अनेक कहानी-लेखक देखे जाते हैं।

निंदिया लागी

कालेज से लौटते समय मैं अक्सर अपने नये बँगले को देखता हुआ घर आया करता। उन दिनों वह तैयार हो रहा था। एक ओवरसियर साहब रोजाना, सुबह-शाम, देख-रेख के लिए आ जाते थे। वे मझले भैया के सहपाठी मित्रों में से थे। लम्बा कद, गौर वर्ण, लम्बी नाक——खूबसूरत और मुख पर उल्लास का अभिनव आलोक। गम्भीर भी होते, तो प्रायः मालूम यही होता कि मुसकरा रहे हैं।

नाम उनका बेनीमाधव था। और अवस्था ? अवस्था उनकी अब पैंतालीस वर्ष से ऊपर जान पड़ती थी। मिस्त्री और मजदूर, सब मिला कर, कोई पचीस-तीस व्यक्ति काम कर रहे थे। मजदूरों में कुछ स्त्रियाँ भी थीं।

एक दिन मैंने देखा——छत कूटी जा रही है। कूटने वालों में स्त्रियाँ ही हैं——अधिकांश रूप से। दो पुरुष भी हैं, लेकिन वे जरा हट कर, एक कोने में हैं। स्त्रियाँ छत कूटती हुई एक गाना गा रही हैं। यों उनका गायन कुछ विशेष मधुर नहीं है; किन्तु अनेक सम्मिलित स्वरों के बीच में एक अत्यन्त कोमल स्वर भी है। तभी मैं उनके पास जाने को तत्पर हो गया। मुझे देखना था कि वह जो गाना गा रही है और जिसका कंठ इतना मधुर है, उसका रूप भी कुछ है या नहीं। मैं मानता हूँ कि यह मेरी दुर्बलता थी; किन्तु उन दिनों मेरी समझ में यह बात कैसे आती!

एकाएक पहले तो ओवरसियर साहब सामने आ गये। बोले——आ गये छोटे भैया !

मैंने उनकी ओर देख कर जरा-सा मुसकरा दिया और कहा——जान तो मुझे भी ऐसा ही पड़ता है।

हँसते हुए उन्होंने तब कहा——लेकिन दर-असल आप आये नहीं। आप समझते हैं दुनिया की नजरों में जो आप यहाँ मौजूद हैं, इतने से ही मैं यह मान लूँ कि आप पूरे सोलह आने-भर आ गये हैं ? और जो कहीं आप अपना 'कुछ' छोड़ आये हों, तो ?

वे तब इतना कहते-कहते मेरे निकट——बिलकुल निकट आ गये ! बोले——जब मैं अपने इंजीनियरिंग कालेज में पढ़ता था, तब मैं कैसा था, सच जानिए, आप

को देख कर जब मुझे उसकी याद आ जाती है, तो जी मसोसने लगता है। तबीयत चाहती है कि अपने को क्या कर डालूँ, जिससे कुछ शान्ति मिले; लेकिन फिर यही सोचकर सन्तोष कर लेता हूँ कि मनुष्य की तृष्णा का अन्त नहीं है। न आकाश में, न महासागर के अतल में, न गिरि-गह्वर में—संसार में कहीं भी, कोई ऐसा स्थान नहीं मिल सकता, जहाँ पहुँच कर मनुष्य कामना से मुक्त हो सके।

बेनी बाबू के मुख पर अगमनीय गम्भीरता की छाप थी, यद्यपि अपने विनम्र हास से वे उसे छिपाना चाहते थे। मैंने कहा—आप मेरे अध्ययन की चीज है, यह मुझे आज मालूम हुआ।

एक ओर चलते हुए वे बोले—अभी आपको कुछ भी नहीं मालूम हुआ है।

किन्तु बेनी बाबू की इतनी-सी बात से मेरे मन का कुतूहल अभी शान्त नहीं हो पाया था, इसलिए मैं उनके पीछे-पीछे चल दिया।

घूमते, काम देखते हुए, एक मिस्त्री के पास जाकर वे खड़े हो गये। वह आर्च (Arch) बनाने जा रहा था। बोले—देखो जी मिस्त्री, पत्तियाँ और फूल बनाना ही काफी नहीं है; टहनी और उसमें उभड़े हुए काँटे भी दिखाने होते हैं। माना कि नकल नकल है, असल चीज वह कभी हो नहीं सकती; किन्तु असल चीज की जो असलियत है, गुण के साथ दुर्गुण भी, नकल में यदि उसको स्पष्ट न किया जा सका, तो वह नकल भी नकल नहीं हो सकती। बनाने में तुमको अगर दिक्कत हो, तो मैं नमूना दे जा सकता हूँ; लेकिन मेरी तबीयत की चीज अगर तुम न बना सके, तो मैं कह नहीं सकता कि आगे चल कर तुम्हें उसका क्या फल भोगना पड़ेगा।

मिस्त्री वृद्ध था। उसके बाल पक गये थे। उसकी आँखों पर पुरानी चाल का चश्मा चढ़ा हुआ था। बड़े गौर से वह बेनी बाबू की ओर देखने लगा; लेकिन उसने कुछ कहा नहीं। तब बेनी बाबू वहाँ और अधिक ठहर न सके।

अब वे आँगन में एक टब के पास खड़े थे। नल का पानी टब में गिर रहा था। मैं थोड़ा पीछे था। जब उनके निकट पहुँचा, तो वे बोले—आपने इस मिस्त्री की आँखों को देखा? वह कुछ कह नहीं सका था; लेकिन उसकी आँखों ने जो बात कह दी, मैं उसे सहन नहीं कर सका। वह समझता है, मैंने फल भोगने की बात कह के उसको चोट पहुँचाने, उसका अपमान करने की चेष्टा की है; किन्तु वह नहीं जानता, जान भी नहीं सकता कि मेरी बात का कोई उत्तर न दे कर उसने

मुझ पर कैसा भयंकर आघात किया है ? एक वह नहीं, मालूम नहीं कितने आदमी आपको ऐसे मिल सकते हैं, जो मुझे गलत समझते है। आज पन्द्रह वर्षों से, वल्कि और भी अधिक काल से, मुझे जहाँ-कहीं भी मकान बनवाने का काम पड़ा है, मैंने उस मिस्त्री को अवश्य बुलाया है। मैंने काम के सम्बन्ध में कभी-कभी तो उसे इतना डाँटा है कि वह रो दिया है, तो भी कभी ऐसा अवसर नहीं आया कि उसने मुझे तीखा उत्तर दिया हो। उसका वही पुराना चश्मा है, वैसी ही भीतर तक प्रविष्ट हो जाने वाली आँखें। उसने कभी मजदूरी मुझसे तय नहीं की। और कभी ऐसा अवसर नहीं आया, जब काम समाप्त हो जाने पर, मजदूरी के अतिरिक्त, उसने दस-पन्द्रह रुपये पुरस्कार न प्राप्त किये हों. . .किन्तु इन सब बातों को अच्छी तरह समझते हुए भी डाँटना तो पड़ता ही है, क्योंकि उससे कलाकार की सुप्त कल्पना को जागरण मिलता है।

अब बेनी बाबू घूमते-फिरते वहीं जा पहुँचे, जहाँ स्त्रियाँ छट कूट रही थीं। उन्होंने एकाएक जो हैटधारी हम लोगों को देखा, तो उनका गाना बन्द हो गया। तब मेरे मन में आया कि इससे तो यही अच्छा था कि हम लोग यहाँ न आते। और कुछ नहीं, तो संगीत का वह मृदुल स्वर तो कानों में पड़ता। और वह संगीत भी कैसा ?—एकदम असाधारण। उसकी टेक तो कभी भूल ही नहीं सकती। जैसी नन्हीं, वैसी ही भोली !—

‘ निंदिया लागी—मैं सोय गयी गुइयाँ ! ’

बेनी बाबू ने खड़े-खड़े इधर-उधर देखा और कहा—देखो इधर, इस तरह नहीं पीटना होता कि चोटों की आवाज का सिलसिला बिगड़ जाय। मुँगरी की आवाज, सारी-की-सारी एकबारगी, एक साथ, होनी चाहिए। और देखो, आज इस छत की पिटाई का काम खतम हो जाना चाहिए।

रामलखन बोला—सरकार, आज कैसे पूरा होगा ? दिन ही कितना रह गया है !

‘बको मत रामलखन ! काम नहीं पूरा होगा, तो पैसा भी पूरा नहीं होगा। समझते ही न ? काम का ही दूसरा नाम पैसा है।’

रामलखन चुप रह गया।

बेनी बाबू भी चल दिये; लेकिन चलने के साथ ही पिटाई की आवाज, उसकी धमक, उसकी गति और चूड़ियों की खनक और ‘निंदिया लागी’ का स्वर अतिशय

गम्भीर हो गया। मैंने बेनी बाबू से कहा——आप काम लेना खूब जानते हैं।

वे हँसते-हँसते बोले——मैं जानता बहुत कुछ हूँ छोटे भैया, लेकिन जानना ही काफी नहीं होता। ज्ञान से भी बढ़ कर जो वस्तु है, उसको भी तो जानना होता है। और उसे मैं अभी तक जान नहीं सका।

मैंने पूछ दिया——वह क्या ?

वे बोले——सत्य का ग्रहण।

मैंने कहा——सिर्फ पहेली न कहिए, उसे समझाते भी चलिए।

वे तब एक पेड़ के नीचे, सड़क पर ही एक ओर, कुर्सियाँ डलवा कर, बैठ गये और बोले——ये स्त्रियाँ, जो यहाँ मजदूरी करने आयी है, कितने सवेरे घर से चली हैं और कब पहुँचेगी! कोई घर में अपने बच्चों को छोड़ आयी है, किसी का पति खेत में काम करने गया होगा। किसी के कोई होगा ही नहीं। और काम करते-करते इनको अगर उनकी सुध आ ही जाती है और काम की गति में क्षणिक मन्दता उत्पन्न हो ही उठती है, तो वह भी आज की हमारी इस सामाजिक व्यवस्था को सहन नहीं है। और तारीफ यह है कि हम समझ लेते हैं कि हम बड़े ज्ञानी हैं। हम यही देख कर सन्तोष कर लेते हैं कि जो स्त्री यहां पर मजदूरी कर रही है, हमको सिर्फ उसी से मतलब है, उसी की मजदूरी हम दे रहे है; किन्तु हम यह सोचने की जरूरत ही नहीं समझते कि वह स्त्री अपने जगत् को लेकर क्या है। जो बच्चा उसने उत्पन्न किया है, वह तो अपने पालन-पोषण का भार अपनी माँ पर रखता है; पर हम लोग यहाँ तक सोचना ही नहीं चाहते। हमारे स्वार्थों ने सत्य को कितनी निरंकुशता के साथ दबा रखा है।

बेनी बाबू चुप हो गये। एक ओर खुले अम्बर में, विहँगावलियाँ अपने पंखों को फैलाये, नितान्त निर्बन्ध, हँसी-खुशी के साथ, उड़ी चली जा रही थीं। एक साथ हम दोनों उधर देखने लगे; किन्तु बराबर उधर देखने के बदले मैंने एक बार फिर बेनी बाबू को ही देखा। उनके मस्तक के ऊपर चँदोवा खुल आया था। उसमें नन्हें-नन्हें एक-आध बाल ही अवशिष्ट थे। वे अब सांध्य आलोक में चमक रहे थे। उनकी खुली आँखें यद्यपि चश्मे के भीतर थी, तो भी मुझे प्रतीत हुआ, जैसे वे कुछ और भी फैल गयी हैं। इसी क्षण वे बोले——अब यह काम आगे न करूँगा। लेकिन...।

उनका यह वाक्य अधूरा रह गया। जान पड़ा, वे कोई निश्चय कर रहे हैं

और रुक-रुक जाते हैं। रुक इसलिए नहीं जाते कि रुकना चाहते हैं। रुक इसलिए जाते हैं कि रुकना नहीं चाहते।

तभी वे फिर बोले—तुम उस बात को अभी समझ नहीं सकोगे, लेकिन ऐसी बात नहीं है कि उस बात के समझने की तुम्हारी क्षमता कुन्द है। देखता हूँ, तुम विचारशील हो और तभी मैं कहना भी चाहता हूँ कि आदमी तो अपने विश्वासों को लेकर खड़ा है, लेकिन जो आदमी अपने विश्वासों को लेकर भी नहीं खड़ा होता, वह भी क्या आदमी है ? वह आदमी नहीं है। वह पशु है—पशु। लेकिन कैसे कहूँ कि पशु भी अपने विश्वासों के विरुद्ध खड़ा हो सकने वाला प्राणी है। वह तो...वह तो, बल्कि अपनी प्रवृत्तियों का ही स्वरूप होता है। और यह मनुष्य, छि: ! इससे भी अधम क्या कोई स्थिति है ?

मैंने देखा, यह वातावरण तो अब अतिशय गम्भीर हो गया है ! और उन दिनों इस तरह की निरी गम्भीरता मुझे जरा कम पसन्द आती थी; बल्कि साथी लोग जब ऐसे व्यक्तियों का मजाक उड़ाते, तो उस दल में मैं भी सम्मिलित हो जाया करता था। बात यह थी कि उस समय एक दूसरा दृष्टिकोण हम लोगों के सामने रहता था। हम सब यही मानते थे कि जीवन तो एक हँसी-खेल की चीज है। सर्वथा अनिश्चित और चरम अकल्पित जीवन के थोड़े-से दिनों को रोना-रोने या सोच-विचार में निपीड़ित-निर्जीव कर डालने में कौन-सी महत्ता है ?

इसीलिए मैंने कह दिया—इन लोगों के गाने में बीच का यह—हाँ यह स्वर मुझे बड़ा कोमल लगता है।

निमेषमात्र में, सम्यक् बदल कर—

जाओ, नजदीक से जाकर सुन आओ। हैट यहीं रख जाओ। फिर भी अगर वे गाना बन्द कर दें, तो कहना—काम में हर्ज नहीं होना चाहिए; क्योंकि गाने के साथ छत कूटने का काम अधिक अच्छा होता है, ऐसा मैं सुनता आया हूँ।—बेनी बाबू ने मुसकराते हुए कहा।

मैं चला गया। चुपचाप—बहुत धीरे-धीरे, पैर सम्हाल-सम्हाल कर। तो भी उनको मालूम हो ही गया। काम की गति में कुछ तीव्रता जरूर जान पड़ी, किन्तु गाना बन्द हो गया।

मैंने कहा—तुम लोगों ने गाना क्यों बन्द कर दिया ?

खिलखिल के कुछ मदिर कलहास ! कभी इधर—कभी उधर।

किसी ने अपनी सखी से कहा, उसे जरा-सा धक्का देकर—गा री पत्ती, चुप क्यों हो गयी ?

'तू ही क्यों नहीं गाती ? छोटे भैया के सामने...।'

'हूँ, बड़ी लाजवन्ती बनी है ! जैसे दुलहे का मुँह ही न देखा हो !'

मैंने कहना चाहा—लड़ो मत। मैं चला जाता हूँ; लेकिन मैं कुछ कह न सका। चुपचाप चला आया। चला तो आया; किन्तु उस खिलखिल और अपने सामने गाने से लजानेवाली उस पत्ती को मैंने फिर देखने की चेष्टा नहीं की।

कैसे उल्लास के साथ आया था; किन्तु कैसा भीषण द्वन्द्व लेकर चल दिया।

बेनी बाबू ने बड़े प्यार से पूछा—कह जाओ।

मैंने कहा—क्या कह जाऊँ ? वही बात हुई। उन लोगों ने गाना बन्द कर दिया।

'फिर तुमने वह बात नहीं कही।'

'उसे मैं कह नहीं सका।'

'तो यह कहो कि तुम खुद ही लजा गये !'

मैं चुप रहा। जिसने कभी चोरी नहीं की, जो यह भी नहीं जानता कि चोरी की कैसे जाती है, वह चीज क्या है, यदि वह कभी उसके दलदल में पड़ जायगा, तो उससे सफाई के साथ निकल ही कैसे सकेगा ? वह तो निश्चयपूर्वक फँस जायगा। वही गति मेरी हुई। क्या मैं जानता था कि बेनी बाबू मुझे ऐसी जगह ले जाएँगे, जहाँ पहुँच कर फिर मुक्ति का कोई मार्ग ही दृष्टिगत न होगा ?

बेनी बाबू बोले—अच्छा, एक काम कर आओ। रामलखन से कहना, अगर आज यह काम किसी तरह पूरा होता न दीख पड़े, तो कल ही पूरा कर डालना ठीक होगा। बेनी बाबू से मैंने कह दिया है कि मजदूरों से उतना ही काम लिया जाय, जितना वे कर सकें।

मैं उनकी ओर देखता रह गया। मेरे मन में आया—यह आदमी है कि देवता।

मुझे अवाक् देख कर उन्होंने पूछा—सोचने क्या हो ?

मैंने कहा—कुछ नहीं। इतने दिन से आपका परिचय प्राप्त है; किन्तु कभी ऐसा अवसर नहीं आया कि आपको इतने निकट से देख पाता।

वे बोले—यह सब कोई चीज नहीं है छोटे भैया ! न्याय और सत्य से हम कितने दूर रहते हैं; शायद हम खुद नहीं जानते।....अच्छा जाओ, जो काम

उसी क्षण मैं पहुँच गया। वे उठने को हुए, तो नौकर ने उन्हें उठा दिया और उनके पीछे तकिये लगा दिये। पहले आँखों पर चश्मा नहीं था; अब उन्होंने चश्मा चढ़ा लिया।

संकेत पाकर मैं उनके पास ही कुरसी डाल कर बैठ गया था।

वे बोले—सुनते हो मुल्लू, मैं तुमको रोने नहीं दूँगा। रोने दूँ, तो मैं अपने को खो दूँगा; लेकिन मैं इतना सस्ता नहीं हूँ। मैं मरना नहीं चाहता, इसीलिए मैं तुमको प्रसन्न देखना चाहता हूँ। बतलाओ, तुम किस तरह से प्रसन्न हो सकते हो? मैं और साफ कर दूँ? मैं तुमको कुछ देना चाहता हूँ। बोलो, तुम कितने रुपये पाकर खुश हो सकते हो? लेकिन तुम यह सोचने की भूल न करना कि ये रुपये तुम्हारी स्त्री की कीमत है। एक स्त्री—एक नवयुवती, एक सुन्दरी—को क्या रुपयों से तोला जा सकता है? छिः यह तो एक मूर्खता की बात है—जंगलीपन है; लेकिन मैंने अभी तुमको बतलाया न, मैं तुमको खुश करना चाहता हूँ।

—ओह 'एक नवयुवती—एक सुन्दरी!'

—तो क्या पत्नी सुन्दर थी?

—तो उसका कण्ठ ही कोमल न था, वरन्...

बेनी बाबू बोले—मैं जानता हूँ, तुम कुछ कहोगे नहीं।

अच्छा, तो मैं ही कह देता हूँ—उसके बच्चे की परवरिश के लिए दस रुपये हर महीने मुझसे बराबर ले जाया करना! समझे! यह... लो दस रुपये! आज पहली तारीख है। हर महीने की पहली तारीख को ले जाया करना।

जेब से नोट निकाल कर उन्होंने मुल्लू के आगे फेंक दिया। तब कितना खुश था, इसको मैंने जाना; किन्तु बेनी बाबू ने जितना कुछ जाना, उसको मैं न जान सका।

मुल्लू जब छलकते आनन्दाश्रुओं के साथ चल दिया, तो बेनी बाबू बोले—मेरा खयाल है, अब यह खुश रहेगा। क्यों? तुम क्या सोचते हो?

मैं चकित था, प्रतिहत था, अभिभूत भी था, तो भी मैंने कह दिया—आपने यह क्या किया?

'ओह, तुम मुझसे पूछते हो, छोटे भैया!—यह क्या किया! यह मैंने अपने को भुलाने के लिए किया है; क्योंकि मनुष्य अपने को भुलावे में रखने का अभ्यासी है! मैंने देखा—मैं एक भूल कर रहा हूँ!—मैं मृत्यु को बुला रहा हूँ। तब मैंने

सोचा—मैं ऐसी भूल नहीं करूँगा, जिसमें अपने-आप को मैं भूला रहूँ ! जीवन में एक ऐसा क्षण भी आता है, जब हमको अपने-आप को भुलाना पड़ता है। वह मेरा ऐसा ही क्षण है; लेकिन यह मेरी भूल नहीं है। यह तो मेरा नवजीवन है—जागरण ।'

यह कथा यहीं समाप्त हो गयी; किन्तु इस कथा के गर्भ में जो अन्तर्वेदना है, उसी की बात कहता हूँ। उपर्युक्त घटना के पीछे कुछ वत्सर और जुड़ गये हैं, यह बँगला अब मुझे रहने के लिए दिया गया है। मैं अब अकेला ही इसमें रहता हूँ। कई सहस्र पुस्तकों के महत् ज्ञान से आवृत मैं—लोग कहते हैं—प्रोफ़ेसर हूँ। जीवन और जगत् का तत्त्वदर्शी; लेकिन मैं अपनी समस्या किससे कहूँ—अपना अन्तर किसको खोलकर दिखलाऊँ ! बच्चे सुनें तो हँसें और बीबी सुने तो कहे—पागल हो गये हो।

कभी-कभी रात के घोर सन्नाटे में स्वप्नाविष्ट-सा मैं कुछ अस्पष्ट-ध्वनियाँ सुनने लगता हूँ। कोई खिलखिला हँस रही है। कोई धक्का देकर कह रही है—गा री पत्ती और चूड़ियाँ खनक उठती हैं, छन कूटने लगती है और एक कोमल, अत्यन्त कोमल गायन-स्वर फूट पड़ता है—निंदिया लागी...।

और उसके हाथों में जो छाले पड़ गये हैं, वे वहाँ से उठकर मेरे हृदय में आकर चिपक गये हैं।

विनोदशंकर व्यास

(जन्म १९०३ ई०)



आपका जन्म काशी के एक समृद्ध घराने में हुआ। आपके पिता और पितामह दोनों ही साहित्यानुरागी थे। पितामह पंडित रामशंकर व्यास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अन्तरंग मित्रों में से थे और कई पत्रों के अवैतनिक सम्पादक भी थे। पिता पंडित कालीशंकर व्यास कवि थे और उनकी समस्या-पूर्तियाँ उस समय के पत्रों में बराबर निकला करती थीं। आपने स्कूल में नवें दर्जे तक शिक्षा प्राप्त की, क्योंकि, इनका मन पढ़ने-लिखने की अपेक्षा खेल-कूद में अधिक रहता था, इसलिए पढ़ना छोड़ दिया। रंभ में कुछ तुकबन्दियाँ कीं; परन्तु इनका मन उपन्यास तथा कहानियाँ पढ़ने अधिक लगता था। स्कूल में भी प्रायः उपन्यास लेकर जाते थे और डेस्क के चे रख कर पढ़ा करते थे। इनकी पहली कहानी १९२५ में 'माधुरी' में छपी। के बाद इनकी कहानियाँ बराबर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं। इनका पन्यास 'अशान्त' भी इसी समय प्रकाशित हुआ। इनकी अब तक की कहा- संग्रह '५० कहानियाँ' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

विधाता

'चीनी के खिलौने, पैसे में दो; खेल लो, खिला लो, टूट जाये, तो खा लो—पैसे में दो।'

सुरीली आवाज में यह कहता हुआ खिलौनेवाला एक छोटी-सी घंटी बजा रहा था।

उसकी आवाज सुनते ही त्रिवेणी बोल उठी—

'माँ, पैसा दो खिलौना लूँगी।'

'आज पैसा नहीं है, बेटी।'

'एक पैसा माँ, हाथ जोड़ती हूँ।'

'नहीं है त्रिवेणी, दूसरे दिन ले लेना।'

त्रिवेणी के मुख पर सन्तोष की झलक दिखलाई दी।

उसने खिड़की से पुकार कर कहा—ऐ खिलौनेवाले, आज पैसा नहीं है; कल आना।

'चुप रह, ऐसी बात भी कहीं कही जाती है?'—उसकी माँ ने भुनभुनाते हुए कहा।

तीन वर्ष की त्रिवेणी की समझ में न आया; किन्तु उसकी माँ अपने जीवन के अभाव का पर्दा दुनिया के सामने खोलने से हिचकती थी। कारण, ऐसा सूखा विषय केवल लोगों के हँसने के लिए ही होता है।

* * *

और सचमुच—वह खिलौनेवाला मुस्कुराता हुआ, अपनी घंटी बजा कर, चला गया।

सन्ध्या हो चली थी।

लज्जावती रसोईघर में भोजन बना रही थी। दफ्तर से उसके पति के लौटने का समय था। आज घर में कोई तरकारी न थी, पैसे भी न थे। विजयकृष्ण को सूखा भोजन ही मिलेगा! लज्जा रोटी बना रही थी और त्रिवेणी अपने बाबूजी की प्रतीक्षा कर रही थी।

'माँ, बड़ी तेज भूख लगी है'—कातर वाणी में त्रिवेणी ने कहा।

'बाबूजी को आने दो, उन्हीं के साथ भोजन करना, अब आते ही होंगे।'—लज्जा ने समझाते हुए कहा। कारण, एक ही थाली में त्रिवेणी और विजयकृष्ण साथ बैठकर नित्य भोजन करते थे और उन दोनों के भोजन कर लेने पर उसी थाली में लज्जावती टुकड़ों पर जीनेवाले अपने पेट की ज्वाला को शान्त करती थी। जूठन ही उसका सोहाग था।

लज्जावती ने दीपक जलाया। त्रिवेणी ने आँख बन्द कर दीपक को नमस्कार किया; क्योंकि उसकी माता ने प्रतिदिन उसे ऐसा करना सिखाया था।

द्वार पर खटका हुआ। विजय दिन-भर का थका लौटा था। त्रिवेणी ने उछलते हुए कहा—माँ, बाबूजी आ गये।

विजय कमरे के कोने में अपना पुराना छाता रखकर खूँटी पर कुर्ता और टोपी टाँग रहा था।

लज्जा ने पूछा—महीने का वेतन आज मिला न?

'नहीं मिला, कल बँटेगा। साहब ने बिल पास कर दिया है।'—हताश स्वर में विजयकृष्ण ने कहा।

लज्जावती चिन्तित भाव से थाली परोसने लगी। भोजन करते समय, सूखी रोटी और दाल की कटोरी की ओर देखकर विजय न जाने क्या सोच रहा था। सोचने दो; क्योंकि चिन्ता ही दरिद्रों का जीवन है और आशा ही उनका प्राण।

* * *

किसी तरह दिन कट रहे थे।

रात्रि का समय था। त्रिवेणी सो गयी थी, लज्जा बैठी थी।

'देखता हूँ, इस नौकरी का भी कोई ठिकाना नहीं है।'—गम्भीर आकृति बनाते हुए विजयकृष्ण ने कहा।

'क्यों! क्या कोई नयी बात है?'—लज्जावती ने अपनी झुकी आँखें ऊपर उठा कर, एक बार विजय की ओर देखते हुए पूछा।

'बड़ा साहब मुझसे अप्रसन्न रहता है। मेरे प्रति उसकी आँखें सदैव चढ़ी रहती हैं।'

'किसलिए?'

'हो सकता है, मेरी निरीहता ही इसका कारण हो।'

लज्जा चुप थी।

'पन्द्रह रुपये मासिक पर दिन-भर परिश्रम करना पड़ता है। इतने पर भी . . .।'

'ओह, बड़ा भयानक समय आ गया है! . . .' लज्जावती ने दुःख की एक लम्बी साँस खींचते हुए कहा।

'मकान वाले का दो मास का किराया बाकी है, इस बार वह नहीं मानेगा।'

'इस बार न मिलने से वह बड़ी आफत मचायेगा।'—लज्जा ने भयभीत होकर कहा।

'क्या करूँ? जान देकर भी इस जीवन से छुटकारा होता . . .।'

'ऐसा सोचना व्यर्थ है। घबड़ाने से क्या लाभ? कभी दिन फिरेंगे ही।'

'कल रविवार है, छुट्टी का दिन है; एक जगह दूकान पर चिट्ठी-पत्री लिखने का काम है। पाँच रुपये महीना देने को कहता था। घंटे-दो-घंटे उसका काम करना पड़ेगा। मैं आठ माँगता था। अब मैं सोचता हूँ, कल उससे मिलकर स्वीकार कर लूँ। दफ्तर से लौटने पर उसके यहाँ जाया करूँगा'—कहते हुए विजयकृष्ण के हृदय में एक हल्की रेखा दौड़ पड़ी।

'जैसा ठीक समझो।'—कह कर लज्जा विचार में पड़ गयी। वह जानती थी कि विजय का स्वास्थ्य परिश्रम करने से दिन-दिन खराब होता जा रहा है।

मगर रोटी का प्रश्न था!

* * *

दिन, सप्ताह और महीने उलझते गये।

विजय प्रतिदिन दफ्तर जाता। वह सब से बहुत कम बोलता। उसकी इस नीरसता पर प्रायः दफ्तर के कर्मचारी उस पर व्यंग करते। उसका पीला चेहरा और धँसी हुई आँखें लोगों को विनोद करने के लिए उत्साहित करती थीं; लेकिन वह चुपचाप ऐसी बातों को अनसुनी कर जाता, कभी उत्तर न देता। इस पर भी लोग उससे असन्तुष्ट रहते थे।

विजय के जीवन में आज एक अनहोनी घटना हुई। वह कुछ समझ न सका। मार्ग में उसके पैर आगे न बढ़ते। उसकी आँखों के सामने चिनगारियाँ झलमलाने लगी। मुझसे क्या अपराध हुआ? . . . कई बार उसने मन ही में प्रश्न किये।

घर से दफ्तर जाते समय बिल्ली ने रास्ता काटा था। आगे चलकर खाली घड़ा दिखाई पड़ा था; इसलिए तो सब अपशकुनों ने मिल कर आज उसके भाग्य

का फैसला कर दिया था !

साहब बड़ा अत्याचारी है। क्या गरीबों का पेट काटने के लिए ही पूँजीपतियों का आविष्कार हुआ है ? नाश हो इनका . . . वह कौन-सा दिन होगा जब रुपयों का अस्तित्व संसार से मिट जायगा ? भूखा मनुष्य दूसरे के सामने हाथ न फैला सकेगा ?—सोचते हुए विजय का माथा घूमने लगा। वह मार्ग में गिरते-गिरते सँभल गया।

सहसा उसने आँख उठाकर देखा, वह अपने घर के सामने आ गया था; बड़ी कठिनाई से वह घर में घुसा। कमरे में आकर धम-से बैठ गया।

लज्जावती ने घबराकर पूछा—तबीयत कैसी है ?

'जो कहा था वही हुआ।'

'क्या हुआ ?'

'नौकरी छूट गयी। साहब ने जवाब दे दिया।'—कहते-कहते उसकी आँखें छलछला गयीं।

विजय की दशा पर लज्जा को रुलाई आ गयी। उसकी आँखें बरस पड़ीं। उन दोनों को रोते देखकर त्रिवेणी भी सिसकने लगी।

संध्या की मलिन छाया में तीनों बैठकर रोते थे।

इसके बाद शान्त होकर विजय ने अपनी आँखें पोंछीं; लज्जावती ने अपनी और त्रिवेणी की—।

क्योंकि संसार में एक और बड़ी शक्ति है, जो इन सब शासन करने वाली चीजों से कहीं ऊँची है—जिसके भरोसे बैठा हुआ मनुष्य आँख फाड़ कर अपनी भाग्य की रेखा को देखा करता है।

वाचस्पति पाठक

(जन्म १९०५ ई०)



जन्मस्थान——नवाबगंज, काशी । घर पर शिक्षण । आरम्भ से साहित्य-प्रेमी। लेखकों और कवियों के निरन्तर सम्पर्क और उनकी रचनाओं के आस्वादन से स्वयं रचना करने की इच्छा का उदय । पहले अर्से तक कविताएँ लिखीं । बाद में कहानियाँ । कहानियाँ रह गई हैं——दो संग्रह ('द्वादशी' और 'प्रदीप') प्रकाशित हैं; कविताएँ अतीत के गर्भ में समा गईं । कौन जाने, कहानियों का भविष्य क्या है ? मेरा उनके विषय में कुछ कहना न उचित है, न प्रासंगिक । केवल इतना कि वे मुझे बहुत प्रिय हैं और ईमानदारी के साथ अच्छी लगती हैं । हिन्दी ने भी उन्हें अपनाया है । बस ।

कागज की टोपी

एक छोटी-सी झोंपड़ी है। रात के आठ बज गये है। उसमें दीपक नहीं जला है। आकाश में जो चांद उगा है उसी का धूमिल प्रकाश, इस झोंपड़ी में दो प्राणियों के मलिन चित्र दीवारों पर अंकित कर रहा है। एक तो बुढ़िया, जिसकी उमर पचास से कम नहीं है। दूसरा जो सोया हुआ है वह पांच-छः वर्ष का बच्चा है। वह उस बुढ़िया के जवान बेटे का बेटा है। यही—ठीक इस झोंपड़ी के मलिन चित्र की तरह—उस बुढ़िया का आधार है। इस झोंपड़ी में बस यही दो चित्र और ये प्राणी—शेष और सब, जो होना चाहिए, कुछ भी नहीं दीखता है। सब जैसे अन्धकार में लुप्त है; पर सच तो यह है कि उनके पास कुछ है ही नहीं। काल ने ठीक उन्हें वैसे ही विचित्र कर दिया है।

बुढ़िया शाम ही को गाँव के कई घरों में घूम कर अपने बच्चे को खिला आयी है। अपने खाने के लिए भी उसके आँचल में कुछ भुना हुआ दाना बँधा है; पर इस शीत की रात में वह पहले बच्चे को सुला देना चाहती है। उसके गल कर सिमटे हुए पेट में भूख न भी हो, तो कुछ आश्चर्य नहीं है; क्योंकि वह उधर कुछ भी ध्यान न देकर बड़ी तल्लीनता से लोरियाँ गुनगुना रही है। बच्चा अभी सोया नहीं है। उसकी स्निग्ध उज्ज्वल दो बड़ी आँखें अपनी गम्भीर नीरवता में स्तब्ध है।

वह बच्चा शाम को जितने भी घरों में दादी के साथ घूमा है, सभी जगह उसने एक ही चर्चा सुनी है। सब ने उसकी दादी से चन्द्रग्रहण में चलने के लिए बातें की हैं। जब वह अपनी दादी की गोद से अलग होकर खेलने के लिए लड़कों की संगति में गया, तब उनमें से कोई भी उसके साथ प्रतिदिन का चिरपरिचित खेल नहीं खेल पाया है। उन सब ने उससे अनजानी ही बातें की हैं। सब अपने उत्साह में रहे है। कौन खिलौने, बाजा, कपड़े और टोपियाँ लेगा, इसी की सूचना से सबने निहाल कर दिया है। उस बालक के मन में ऐसी चिन्ता कभी उदय नहीं हुई है। वह विकल हो गया है।

बुढ़िया लोरियों की मधुरता में और लड़का अपने विचारों में लीन है। वे एक-दूसरे से अपने में एकदम अलग हो रहे हैं; पर, बच्चा अपने विचारों की

सुत्थियों को अकेले नहीं सुलझा पाता है। वह दादी को पुकारता है . . . दादी ! . . . ओ री दादी !

दादी लोरी बन्द कर देती है, वह उत्सुकता से पूछती है,—हाँ क्या है बेटा

कहाँ ग्रहण लगेगा दादी ?—वह पूछता है,—लल्लू, छैल, मिन्नी और बड़ छोटी भी कहती है कि वहाँ जाएँगे ?

बुड़िया के मुँह पर स्नेह चमक रहा है। वह उसकी बातें सुन कर खिल जाती है। वह निराश स्वर में कहती है—बनारस में। यहाँ से बड़ी दूर पर ग्रहण लगेगा

लड़के को इतने से सन्तोष नहीं होता है। वह बड़े आश्चर्य से पूछता है—तो फिर मिन्नी और छोटी कैसे जाएँगी ? वह कहती है—हम वहाँ खिलौने लेंगी।—कपड़े लेंगी।—कहकर वह बुड़िया की ओर बड़ी उत्सुकता से देखता है। वह चुप रहती है। उससे लड़के का कौतूहल बढ़ता है। फिर वह पूछता है—तो क्यों दादी, सचमुच वहाँ खिलौने मिलते हैं ?

'मिलते होंगे बेटा !'—उसकी उत्सुकता से वह निराश हो रही है। उसके मन में एक अस्पष्ट चित्र उदय हो रहा है। वह खीझ कर बोलती है—'वहाँ बड़ी भीड़ होती है, जाड़े की इस रात में वहाँ सब नहाते हैं, बस और कुछ नहीं होता।'—वह अपना विरोध प्रकट करने के लिए दीर्घ एक श्वास छोड़कर चुप हो जाती है।

लड़के का आश्चर्य और बढ़ जाता है। वह और आतुरता से पूछता है—बड़ी भीड़ होती है ?

'और क्या !'—वह क्षोभ से भर कर कहती है—'ऐसी भीड़ होती है, कि कितने दब जाते हैं ! एक-दूसरे पर गिर कर मर जाते हैं ! और बेटा, एक दूसरे से छूट कर उस भीड़ में भूल जाते हैं !'—बुड़िया की आँखों में आँसू भर आते हैं वह भरे हुए कंठ से कहती है—'फिर भला हम वहाँ कहाँ जायँगे ? मेरे बच्चे तू मेरी गोद से छूट जायगा ! तुझे कैसे सँभालूँगी ?'—वह उसे गोद में उठा लेती है, चूमती है। उसकी आँख से आँसू की दो बूँदें बालक के सिर पर गिर जाती हैं। वह उसे अपने आलिंगन में चिपटा लेती है।

बालक के चिपकने से उसके प्रेम में उफान आ रहा है। वह जैसे लय हुई जा रही है। वह बच्चा इसे जैसे उसके प्यार का बन्दी होकर समझ रहा है। उसे राह नहीं मिल रही है। वह जैसे मुक्त होने के लिए पूछता है—तब, हम न चलेंगे दादी ?

उसकी इस निराश वाणी से बुड़िया का हृदय कसक उठता है। अब उसके

हृदय की इच्छा का दमन उससे नहीं हो सकता, उसके लिए वह सब कुछ कर सकती है। वह एक नवीन उत्साह से पूछती है—तू चलेगा बेटा ? . . . अच्छा मैं जरूर चलूँगी; और सब जाएँगे तू ही न जायगा ! मै तुझे जरूर लिवा ले चलूँगी। मेरा राजा ! . . . मेरा बेटा !—वह उसे चूमती है। दोनों हसते हैं। दोनों प्रसन्न हैं। फिर दोनों, परस्पर विश्वास रख कर सो जाते है।

२

बालक अब उसे दिन भर तंग कर रहा है। हर बार, प्रत्येक समय वह एक ही बात करता है, उसे आश्वासन मिलता है, विश्वास होता है; पर फिर वह उसी की गाँठ बाँध लेना चाहता है। उसकी रट कम पड़ती ही नहीं है। गाँव के चलने वाले और बालकों के पास भी वह दौड़-दौड़ कर जाता है। वह अब किसी से कम नहीं है। इसी विश्वास से वह सब को देखता है।

उसकी दादी संकोच में गड़ी हुई है। वह पहले अपने आप ही चलने की नितान्त अनिच्छा प्रकट करती रही है। अपनी गरीबी में, जीवन-यापन से अधिक के लिए उसे किसी के सिर का बोझ बनना कभी पसन्द नहीं हुआ है। और फिर काशी में—पुण्य-कार्य में . . . ! अपनी इच्छा को मसल कर वह इसी से अपने को बचाती गयी है। पर, अब वह वैसा नहीं कर सकती है। वह उद्विग्न है। सब से विनय कर रही है। एक बुढ़िया को काशी नहलाने का पुण्यलाभ !—हाथ जोड़ कर—वह गाँव-भर को बता आयी है। उन्हीं लोगों के विश्वास पर वह जा रही है। अब मरने के पहले उसकी जैसे यही साध है। सब के साथ वह भी उत्साह दिखा रही है। उसके भी मन में उमंग है।

सब के साथ वह भी तैयार हो गयी है। उसने अपनी पोटली सिर पर रख ली है और बच्चे की अँगुलियाँ उसके हाथ में हैं। अपने सब साथियों के पीछे उसने अपना मार्ग पाया है। उसकी निरीहता में जैसे उसका यही स्थान है। उस लड़के ने जैसे और सब उसका खो दिया है। वह अब जैसे एक धुन में है। वह अपने ही मन में लीन, मौन और निर्विकार बन गयी है। साथ ही स्त्रियाँ गीत का स्वर निकाल रही हैं; पर लड़का मानता नहीं है। वह रह-रह कर उसे खींचता है, बढ़ता है। वह एक से दूसरे लड़के के पास पहुँच जाना चाहता है सब देखें—वह भी चल रहा है। उसकी दादी नहीं पहुँच रही है ! अच्छा . . . ! वह लल्लू को पुकारता है, छैल से बातें करता है।—छोटी ! छोटी . . . ! लो सब चीखने लगे हैं। माताएँ

घबरा उठती हैं। डाँट पड़ती है। मार की नौबत आ गयी है। कितने डर दिखाये गये हैं। थोड़ी-सी शान्ति होती है, फिर वही—सब जैसे गीत के प्रवाह में कल-कल कर बह रहे हैं।

३

लड़के ने जैसे बड़ी प्रतीक्षा की है। अब उसमें होने की नहीं है। इस विशाल नगर में आकर उसका धैर्य वृक्ष के कोमल पत्ते की तरह काँपने लगा है। उसका लोभ सर्वग्रासी मुँह फाड़ कर खड़ा है। उसकी बुद्धि काम नहीं दे रही है। वह रह-रह कर चिल्लाता है, अनुनय करता है—दादी तूने मुझे कुछ नहीं ले दिया,—ऊँ ऊँ, ऊँ।

वह कहती है–अब तू दिन भर रोयेगा?

वह तनिक ही चुप होता है। फिर कहता है—दादी, मुझे भी मिठाई दिला दे।

आह, तूने गजब कर डाला रे!—दादी उसकी बात सुन कर चीख उठती है—यह नयी आदत सीखी है?

बालक डर जाता है। उसने अपनी दादी से कभी फटकार तो पायी नहीं है। उसकी डाँट से वह जैसे अपमानित होता है। लज्जा से अभिभूत होकर वह दादी की गोद में छिप जाता है। वह अब जैसे कुछ नहीं बोलेगा।

बुढ़िया इसे समझ रही है, वह कहती है—बेटा! अभी तूने गुड़ खाया है न? वही तो मिठाई है, तू नाहक जिद करता है। इतने पैसे मेरे पास कहाँ हैं? ले यही तो मेरे पास पैसे है, इनसे जो चाहे तू ले। —कहकर बुढ़िया अपनी गाँठ खोल रही है; पर बच्चा उसे रोकता है।—ना-ना, तू ही ले देना।—वह अभी अपने को उसकी गोद में छिपाये रखना चाहता है।

उसी समय शहर चलने की तैयारी हो गयी है। लाल, पीली और काली बूटियों की चादरें ओढे उन औरतों का गरोह, जैसे रंग-बिरंगी तितलियों के झुण्ड हैं। उसके पीछे बुढ़िया भी किसी सूखे वृक्ष के ठूँठ की तरह लगी है, जिसे छोड़ कर वे उड़ी जा रही हैं। उसकी आँखें विस्मय से विमुग्ध है। नगर उनके लिए अलौकिक सत्ता है। जिसको उनकी कल्पना इन्द्रलोक बना देती है। बच्चे और भी प्रसन्न है। घोड़ा गाड़ी, मोटर और साइकिलें—इनकी पों-पों और टुन-टुन कितने गजब हैं। वह उछल रहे है! मोटर से कीचड़ उछल कर पड़ने पर भी सब हँस रहे है!

जैसा अच्छा यह उनका आश्चर्य और भाग्य है !!

बाजार में पहुँचकर खरीददारी शुरू हो गयी है। वे कुछ इधर कुछ उधर दूकानों पर हो रही हैं। शहर की चीजें, ला-जवाब चीजें, वे ले रही है। बच्चे अलग अपने मन की चीजें देख कर शोर कर रहे है। तब तक एक बच्चा चिल्लाता है—देख-देख मेरी टोपी !—उसकी सुनहले तारों से चमचम चमकती हुई टोपी है।

बुढ़िया की गोद में लड़का अप्रतिभ हो गया है। उसकी आँखों में आँसू भर आये हैं। वह दादी की गोद से शून्य दृष्टि से देखता है, भय से कुछ कहना नहीं चाहता है। दादी के मुख की पीड़ा को वह जैसे समझता है ! इसीलिए वह अपनी आह को दबा कर दूसरी ओर देखने लगता है। एक ओर देख कर कहता है—अहा... ओ दादी ! वह देख कैसी अच्छी लाल-हरी टोपी !

दादी देखती है। एक आदमी लाल-हरी कागज की टोपियों की छतरी-सी लिये खड़ा है। वह रह-रहकर बोल रहा है—ले लो, ये लाल-हरी टोपियाँ, तीन-तीन पैसे में, बुढ़िया यह सुन जैसे उत्साह में आ गयी है। वह उसे ले रही है। बच्चा मुग्ध हो रहा है। दादी ने अपनी छोटी-सी गाँठ खाली कर दी है। उसे टोपी पिन्हा कर वह जैसे उससे अधिक पा गयी है। बहुत अधिक लाभ में जैसे प्रसन्न है। वह चुप है। आनन्द-विभोर है। वह केवल प्रसन्न दृष्टि से उसे देख रही है,बच्चा जैसे श्रीमान् है। वह जैसे आज उसका नहीं है। वह दूर से—बहुत चाहने, प्यार करने पर, आज उसका बनकर आया है। ऐसा प्यार ! वह अकिंचन कुछ न बोलेगी। केवल अभी दृष्टि-भर देख तो ले। वह उसे प्रसन्न कर सकी है। वह गर्व-स्फीत है।

बच्चा कैसा सच का राजा है। अभिमान से भरा है। अब वह किसी की ओर नहीं देख रहा है। वह अपनी कागज की टोपी लगाता है, उतारता है, देखता है, छाती से चिपकाता है, हँसता है। वह अपने ही में प्रसन्न हो रहा है। वह लाल-हरी टोपी उसकी आँखों को रंगीन कर रही है। रोशनी के प्रकाश में उसके कपड़े को रंगीन कर रही है। वह देखता नहीं है, उसके मुख को भी रंगीन कर रही है। वह वैसा ही प्रसन्न है। अब वह अपने में ही चीखता है, हँसता है और बातें करता है। वह उसी में भूल गया—रम गया है।

४

बुढ़िया सब से अलग पड़ गयी है। उसका साथ छूट गया है। वह स्तम्भित हो गयी है। इस अपरिचित जन-समूह में अब वह अकेली है। अब आह...आँधी-

नी चलने लगी है। ऊपर आकाश में बादल धीरे-धीरे गुड़ुन-गुड़ुन कर रहे हैं। उसका मन भीतर-बाहर हो रहा है। उसे बच्चे को बचाना है। उसकी व्याकुलता उसी के लिए बढ़ रही है। उसे कहीं स्थान नहीं है। वे ऊँचे-ऊँचे मकान, उनके आदमी, उसकी कहीं पहुँच नहीं है। आशा नहीं है। वह विपद में फँसी है। वह 'अस्सी' की ओर बढ़ रही है। वहीं वह ठहरी थी। अब भी वहीं जाकर रुकेगी, वह बच्चे को छिपाकर भाग रही है।

वह भाग रही है। जल्दी में है। बच्चे को सँभाल रही है। बच्चा उसकी उद्विग्नता नहीं समझता है। वह रह-रह कर अपनी टोपी उसे दिखा देना चाहता है। उसकी ऐसी अच्छी टोपी, उसकी दादी मजे में देख तो ले: वह व्याकुल है। उसकी तृप्ति असन्तोष में ढल रही है। वह अधीर होकर पुकार उठता है —दादी !...

दादी बोलती नहीं है। वह उसे चिपकाये जा रही है। सर्दी की रात है। हवा है। बादल है। इन सब का रूप उसके मन में एक दुनिया बन गयी है, जिसमें वह अकेली भाग रही है। और सब जैसे उससे मुक्त है। उसकी आँखों के सामने सारा का दृश्य जैसे उस दुनिया के बाहर है, जहाँ से उसके लिए कोई आशा, सहानुभूति, प्रेम और करुणा नहीं है। वह सब से अलग है। झर...झर... झर... बड़ी बूँदों की झड़ी लग गयी है। वह भीग उठी है। बच्चे के कपड़े गीले हो गये हैं।

बच्चा भींग गया है। दादी की छाती में छिपे रहने पर भी उसके सिर से पानी चू रहा है। उसके लटीले बालों से फिसल कर छोटी-छोटी बूँदें चू रही हैं, जिनमें टोपी का रंग घुल रहा है। टोपी भीग कर लत्ता हो चली है। बालक उसे सिर पर और दबाये जा रहा है; जैसे अपनी चिर संचित साध को उस झड़ी से बचा रहा है।

'अस्सी' का घाट सूना पड़ा है। पानी आकर निकल गया है; पर बादल अब भी आकाश में छिटके हैं। उनके बड़े-बड़े टुकड़े घूम-घूम कर चाँद को घेर रहे हैं। उस अन्धकार में गैस की बत्ती अपनी रोशनी चुपचाप जमीन पर गिरा रही है। सारा मैदान विधवा के हृदय की भाँति शून्य और धूमिल है। उसके सब साथी दूर न जाने किस कोने में पड़े हैं। उस मैदान के एक असहाय छोर में मलिन, निरीह और टूटी स्मृति-सी बुढ़िया पड़ी है। उस पर एक पेड़ की छाया

है। वह वहाँ अपने को अकेले देख रही है। बच्चे का शरीर भीगने पर भी उसे गर्म मालूम पड़ रहा है। उसका मन और भी बैठ रहा है। घरों में—छायाओं में न जाने कितने आदमी मरे पड़े हैं। सबकी साँस उसे जैसे स्पर्श कर जाती है। वह अपने मन में समझती और कानों से सुनती भी है; पर वह उन तक जा नहीं पाती है। उसकी निरीहता को कहीं शरण नहीं है। साहस के अभाव ही में वह मौन है।

पीपल के पेड़ का सहारा लिए वह पड़ी है। वह थक गयी है। अपने शरीर को उसने एकदम छोड़ दिया है। उस गीले में वह सो भी नहीं सकती। वह शिथिल होकर और भी अवसाद में बही जा रही है। हवा नहीं चल रही है, फिर भी पीपल के घने पत्ते हिल रहे हैं—चमक रहे हैं। उनका शीतल स्पर्श उसके मन को कँपा जाता है।

बच्चे की देह जलते तवे-सी लाल है। सम्पूर्ण शरीर में खून के रवे जैसे फूट पड़े हैं। वह अपने उत्साह की दौड़ में शिथिल हो गया है। वह वहाँ से बढ़ भी नहीं पाता है। दादी उसे जकड़े हुए पड़ी है। इसी से जैसे क्षोभ में असवन्न है। उसके हृदय पर वह बन्धन जैसे पहाड़ बन कर भार दे रहा है। वह ऊब रहा है। एक काँपती आवाज निकलती है—दा...दी!

हाँ—वह आह भर कर कहती है—क्या है लाल!—वह अपने गीले कपड़ों के घेरे के भीतर झाँक कर बड़े कातर स्नेह से उसे देखने लगती है।

बच्चे को जैसे सहारा मिल जाता है। वह अपनी मन की गाँठ खोल कर धीरे से कहता है—मेरी अच्छी टोपी, दादी!—उसने अपनी टोपी सिर पर दबा ली है।

बुढ़िया के मुँह से 'हाँ' भी नहीं निकल पाता है। उसका हृदय जैसे चिर गया है। बालक के काले हो रहे होठों पर बिखरी हँसी उसके कलेजे में और भी तीर बन कर धँस गयी है। वह उसी पीड़ा में एक क्षण उसे देखती है, फिर उत्तर में केवल सिर हिला देती है, और, और भी जकड़ कर उसे अपनी गोद में छिपा लेती है।

बुढ़िया अपने क्लान्त शरीर में बेसुध हुई पड़ी है। उसकी पीड़ा में एक ही कल्पना सिसक रही है—मेरी अच्छी टोपी...! अभी दो क्षण पहले की देखी, सिकुड़ी, धुले हुए रंग की पिचकी-पिचकी टोपी, पहले-सी नयी बन कर उसके भावों

में रंग भर रही है। सचमुच वह उसी नशे में पड़ी है। उसके हाड़ों की ठठरी को पवन हिला देता है। वह जाग जाती है। फिर भी बच्चे की प्रसन्नता की निधि, वह लाल-हरी टोपी, उसे ढँक लेती है।

बच्चे का प्यार लुट गया है, इसी से वह लुट गयी है। वह पीड़ा में डूब गया है, इसी से वह डूब गयी है। वह बेहाल है, अशक्त है, असहाय है, मौन है, जल रहा है—काँप रहा है; इसी से उसकी दादी बेहोश है, निरीह है, निरवलम्ब है, चुप है, मर रही है—हिल रही है। वह अपने में नहीं है—खो गयी है। रात भींगे पैरों भगी जा रही है।

पत्ते खड़खड़ा रहे हैं। उस प्रशान्त नीरवता के हृदय की धड़कन जैसे बढ़ रही है। एक 'ठक' की आवाज होती है। कोई सामने आकर जैसे खड़ा हो जाता है। ओह...वह लम्बे लबादे में काली झब्बेदार पगड़ी से लैस हाथ की लम्बी मोटी लकड़ी पर अकड़ दिये एक सिपाही खड़ा है। उसे इस सुन-सान रात में भागती हुई नदी की जलधारा को देख कर जैसे 'ठक' मार गया है। वह निश्चिन्त और सुखी है! उसने बुढ़िया की ओर देखा भी नहीं; पर वह एक बार फिर काँप गयी है।

अब रात छिप चली है। ऊषा की राह में बादलों की लाल पहाड़ियों को बेध कर, सुनहली किरणें जल पर सिकल आयी हैं। उसकी गोद में उसका बच्चा काला पड़ गया है। बुढ़िया की पलकें जैसे गिरने लगी हैं, पर वह स्वयं लुढ़क जाती है, जैसे—प्रभात के लिये पाँवड़े बिछा गयी है।

जैनेन्द्र कुमार

(जन्म १९०५ ई०)



जन्म कौड़ियागंज, अलीगढ़ में एक मध्यम श्रेणी के परिवार में हुआ। पिता का देहान्त बाल्यावस्था में ही हो गया, तब माता ने लालन-पालन किया। सातवीं श्रेणी तक जैन गुरुकुल ऋषि ब्रह्मचर्याश्रम, हस्तिनापुर में शिक्षा पायी। तदनन्तर प्राइवेट रूप से मैट्रिक पास किया। इसके बाद काशी जाकर हिन्दू-विश्व-विद्यालय में नाम लिखा लिया; पर सेकेण्ड इयर तक पहुँच कर पढ़ाई छूट गयी। महात्मा गांधी के असहयोग-आन्दोलन में जेल-जीवन का अनुभव किया। जेल में ही लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई। पहली कहानी 'खेल' १९२८ में 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुई। इसी समय पहला उपन्यास 'परख' प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास की एक विशेषता यह थी कि इसमें साहित्य में प्रचलित तथा रूढ़ शब्दों के स्थान पर बोल-चाल के शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में है। हिन्दुस्तानी एकाडेमी, प्रयाग ने इस पर पाँच सौ रुपये का पारितोषिक प्रदान किया है। अब तक आपके पाँच उपन्यास तथा पाँच कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

पत्नी

शहर के एक ओर एक तिरस्कृत मकान। दूसरा तल्ला। वहाँ चौके में एक स्त्री अँगीठी सामने लिये बैठी है। अँगीठी की आग राख हुई जा रही है। वह जाने क्या सोच रही है। उसकी अवस्था बीस-बाईस के लगभग होगी। देह से कुछ दुबली है और सम्भ्रान्त-कुल की मालूम होती है।

एकाएक अँगीठी में राख होती हुई आग की ओर स्त्री का ध्यान गया। घुटनों पर हाथ देकर वह उठी। उठ कर कुछ कोयले लायी। कोयले अँगीठी में डाल कर फिर किनारे ऐसे बैठ गयी, मानो याद करना चाहती है कि 'अब क्या करूँ ?' घर में और कोई नहीं है और समय बारह से ऊपर हो गया है।

दो प्राणी इस घर में रहते हैं, पति और पत्नी। पति सबेरे से गये हैं कि लौटे नहीं और पत्नी चौके में बैठी हैं।

वह (सुनन्दा) सोचती है—नहीं, सोचती कहाँ है, अलसभाव से वह तो वहाँ बैठी ही है। सोचने को है तो यही कि कोयले न बुझ जायँ।...वह जाने कब आएँगे। एक बज गया है। कुछ हो, आदमी को अपनी देह की फिक्र तो करनी चाहिए।...और सुनन्दा बैठी है। वह कुछ कर नहीं रही है। जब वह आयेंगे तब रोटी बना देगी। वह जाने कहाँ-कहाँ देर लगा देते हैं। और कब तक बैठूँ। मुझसे नहीं बैठा जाता। कोयले भी लहक आये हैं। और उसने झल्लाकर तवा अँगीठी पर रख दिया। नहीं, अब वह रोटी बना ही देगी। उसने जोर से खीझ कर आटे की थाली सामने खींच ली और रोटी बेलने लगी।

थोड़ी देर बाद उसने जीने पर पैरों की आहट सुनी। उसके मुख पर कुछ तल्लीनता आयी। क्षण-भर वह आभा उसके चेहरे पर रह कर चली गयी और वह फिर उसी भाँति काम में लग गयी।

कालिन्दीचरण (पति) आये। उनके पीछे-पीछे तीन और उनके मित्र भी आये। ये आपस में बातें करते चले आ रहे थे। और खूब गर्म थे। कालिन्दीचरण मित्रों के साथ सीधे अपने कमरे में चले गये। उनमें बहस छिड़ी थी। कमरे में पहुँच कर रुकी हुई बहस फिर छिड़ गयी। ये चारों व्यक्ति देशोद्धार

के सम्बन्ध में बहुत कटिबद्ध हैं। चर्चा उसी सिलसिले में चल रही है। भारत-माता को स्वतंत्र करना होगा—और नीति-अनीति हिंसा-अहिंसा को देखने का यह समय नहीं है। मीठी बातों का परिणाम बहुत देखा। मीठी बातों से बाघ के मुँह से अपना सिर नहीं निकाला जा सकता। उस वक्त बाघ का मारना ही एक इलाज है। आतंक! हाँ, आतंक। हमें क्या आतंकवाद से डरना होगा? लोग हैं जो कहते हैं, आतंकवादी मूर्ख हैं, वे बच्चे हैं। हाँ वे हैं बच्चे और मूर्ख। उन्हें बुजुर्गी और बुद्धिमानी नहीं चाहिए। हमें नहीं अभिलाषा अपने जीने की। हमें नहीं मोह बाल-बच्चों का। हमें नहीं गर्ज धन-दौलत की। तब हम मरने के लिए आजाद क्यों नहीं हैं? जुल्म को मिटाने के लिए कुछ जुल्म होगा ही। उससे वे डरें जो डरते है। डर हम जवानों के लिए नहीं है।

फिर वे चारों आदमी निश्चय करने में लगे कि उन्हें खुद क्या करना चाहिए।

इतने में कालिन्दीचरण को ध्यान आया कि न उसने खाना खाया है, न मित्रों के खाने के लिए पूछा है। उसने अपने मित्रों से माफी माँग कर छुट्टी ली और सुनन्दा की ओर चला।

सुनन्दा जहाँ थीं, वहाँ है। वह रोटी बना चुकी है। अँगीठी के कोयले उल्टे तवे से दबे हैं। माथे को उँगलियों पर टिकाकर वह बैठी है। बैठी-बैठी सूनी-सी देख रही है। सुन रही है कि उसके पति कालिन्दीचरण अपने मित्रों के साथ क्यों और क्या बातें कर रहे हैं। उसे जोश का कारण नहीं समझ में आता। उत्साह उसके लिए अपरिचित है। वह उसके लिए कुछ दूर की वस्तु है, स्पृहणीय और मनोरम और हरियाली। यह भारतमाता की स्वतन्त्रता को समझना चाहती है; पर उसको न भारतमाता समझ में आती है, न स्वतन्त्रता समझ में आती है। उसे इन लोगों की इस जोरों की बात-चीत का मतलब ही समझ में नहीं आता। फिर भी, उत्साह की उसमें बड़ी भूख है। जीवन की हौंस उसमें बुझती-सी जा रही है; पर वह जीना चाहती है। उसने बहुत चाहा है कि पति उससे भी कुछ देश की बात करें। उसमें बुद्धि तो जरा कम है, फिर धीरे-धीरे क्या वह भी समझने नहीं लगेगी? सोचती है, कम पढ़ी हूँ, तो इसमें मेरा ऐसा कसूर क्या है? अब तो पढ़ने को मैं तैयार हूँ, लेकिन पत्नी के साथ पति का धीरज खो जाता है। खैर, उसने सोचा है, उसका काम तो सेवा है। बस, यह मान कर जैसे कुछ समझने की चाह ही छोड़ दी है। वह अनायास भाव से पति के

की बात में अपने को उलझा लेना चाहती है; पर अकेले में, वह कुछ करे, रह-रह कर वही वह याद —वही वह मरने की बात उसके सामने हो रहती है और उसका चित्त बेबस हो जाता है।

वह उठी। अब उठ कर बरतनों को माँज डालेगी, चौका भी साफ करना है। आह! खाली बैठी मैं क्या सोचती रहा करती हूँ।

इतने में कालिन्दीचरण चौके में घुसे।

सुनन्दा कठोरतापूर्वक शून्य को ही देखती रही। उसने पति की ओर नहीं देखा।

कालिन्दी ने कहा—सुनन्दा, खानेवाले हम चार हैं। खाना हो गया?

सुनन्दा चून की थाली और चकला-बेलन और बटलोई वगैरह खाली बरतन उठाकर चल दी, कुछ भी बोली नहीं।

कालिन्दी ने कहा—सुनती हो,तीन आदमी मेरे साथ और हैं। खाना बन सके तो कहो; नहीं तो इतने में ही काम चला लेंगे।

सुनन्दा कुछ भी नहीं बोली। उसके मन में बेहद गुस्सा उठने लगा। यह उससे क्षमा-प्रार्थी-से क्यों बात कर रहे हैं, हँस कर क्यो नहीं कह देते कि कुछ और खाना बना दो। जैसे मैं गैर हूँ। अच्छी बात है, तो मैं भी गुलाम नहीं हूँ कि इनके ही काम में लगी रहूँ। मैं कुछ नहीं जानती खाना-वाना। और वह चुप रही।

कालिन्दीचरण ने जरा जोर से कहा—सुनन्दा!

सुनन्दा के जी में ऐसा हुआ कि हाथ की बटलोई को खूब जोर से फेंक दे। किसी का गुस्सा सहने के लिए वह नहीं है। उसे तनिक भी सुध न रही कि अभी बैठे-बैठे इन्हीं अपने पति के बारे में कैसी प्रीति की और भलाई की बातें सोच रही थी। इस वक्त भीतर-ही-भीतर गुस्से से घुट कर रह गयी।

"क्यों! बोल भी नहीं सकतीं?"

सुनन्दा नहीं ही बोली।

"तो अच्छी बात है। खाना कोई भी नहीं खायेगा।"

यह कह कर कालिन्दी तैश में पैर पटकते हुए लौटकर चले गये।

कालिन्दीचरण अपने दल में उग्र नहीं समझे जाते, किसी कदर उदार समझे जाते हैं। सदस्य अधिकतर अविवाहित हैं, कालिन्दीचरण विवाहित ही नहीं हैं,

वह एक बच्चा खो चुके हैं। उनकी बात का दल में आदर है। कुछ लोग उनके धीमेपन पर रुष्ट भी हैं। वह दल में विवेक के प्रतिनिधि हैं और उत्ताप पर अंकुश का काम करते हैं।

बहस इतनी बात पर थी कि कालिन्दी का मत था कि हमें आतंक को छोड़ने की ओर बढ़ना चाहिए। आतंक से विवेक कुंठित होता है और या तो मनुष्य उससे उत्तेजित ही रहता है, या उसके भय से दबा रहता है। दोनों ही स्थितियाँ श्रेष्ठ नहीं हैं। हमारा लक्ष्य बुद्धि को चारों ओर से जगाना है, उसे आतंकित करना नहीं। सरकार व्यक्ति के और राष्ट्र के विकास के ऊपर बैठकर उसे दबाना चाहती है। हम इसी विकास के अवरोध को हटाना चाहते हैं—इसी को मुक्त करना चाहते हैं। आतंक से वह काम नहीं होगा। जो शक्ति के मद में उन्मत्त है, असली काम तो उसका मद उतारने और उसमें कर्त्तव्य-भावना का प्रकाश जगाने का है। हम स्वीकार करें कि मद उसकी टक्कर खाकर, चोट पाकर ही उतरेगा। यह चोट देने के लिए हमें अवश्य तैयार रहना चाहिए ; पर यह नोचा-नोची उपयुक्त नहीं। इससे सत्ता का कुछ बिगड़ता तो नहीं, उल्टे उसे अपने औचित्य पर सन्तोष हो आता है।

पर जब (सुनन्दा के पास से) लौट कर आया, तब देखा गया कि कालिन्दी अपने पक्ष पर दृढ़ नहीं है। वह सहमत हो सकता है कि हाँ, आतंक जरूरी भी है। "हाँ", उसने कहा—"यह ठीक है कि हम लोग कुछ काम शुरू कर दें।" इसके साथ ही कहा,—"आप लोगों को भूख नहीं लगी है क्या ? उनकी तबियत खराब है, इससे यहाँ तो खाना बना नहीं। बताओ क्या किया जाय ? कहीं होटल चलें ?"

एक ने कहा कि कुछ बाजार से यहीं मँगा लेना चाहिए। दूसरे की राय हुई कि होटल ही चलना चाहिए। इसी तरह की बातों में लगे थे कि सुनन्दा ने एक बड़ी थाली में खाना परोस कर उनके बीच ला रखा। रख कर वह चुपचाप चली गयी। फिर आकर पास ही चार गिलास पानी के रख दिये और फिर उसी भाँति चुपचाप चली गयी।

कालिन्दी को जैसे किसी ने काट लिया।

तीनों मित्र चुप हो रहे। उन्हें अनुभव हो रहा था कि पति-पत्नी के बीच स्थिति में कहीं कुछ तनाव पड़ा हुआ है। अन्त में एक ने कहा—कालिन्दी, तुम

तो कहते थे, खाना नहीं है ?

कालिन्दी ने झेंप कर कहा—मेरा मतलब था, काफी नहीं है।

दूसरे ने कहा—बहुत काफी है। सब चल जायगा।

देखूँ, कुछ और हो तो—कह कर कालिन्दी उठ गया।

आकर सुनन्दा से बोला—यह तुमने किससे कहा था कि खाना वहाँ ले आओ ? मैंने क्या कहा था ?

सुनन्दा कुछ न बोली।

"चलो, उठा कर लाओ थाली। हमें किसी को यहाँ नहीं खाना है। हम होटल जायँगे।"

सुनन्दा नहीं बोली। कालिन्दी भी कुछ देर गुम खड़ा था। तरह-तरह की बातें उसके मन में और कंठ में आती थीं। उसे अपना अपमान मालूम हो रहा था, और अपमान उसे असह्य था।

उसने कहा—सुनती नहीं हो कि कोई क्या कह रहा है ! क्यों ?

सुनन्दा ने और मुँह फेर लिया।

'क्या मैं बकते रहने के लिए हूँ ?'

सुनन्दा भीतर ही भीतर घुट गयी।

'मैं पूछता हूँ कि जब मैं कह गया था, तब खाना ले जाने की क्या जरूरत थी ?'

सुनन्दा ने मुड़कर और अपने को दबा कर धीमे से कहा—खाओगे नहीं ? एक तो बज गया।

कालिन्दी निरस्त्र होने लगा। यह उसे बुरा मालूम हुआ। उसने मानो धमकी के साथ पूछा—खाना और है ?'

सुनन्दा ने धीमे से कहा—आचार लेते जाओ।

'खाना और नहीं है ? अच्छा, लाओ अचार।'

सुनन्दा ने अचार ला दिया और लेकर कालिन्दी भी चला गया।

सुनन्दा ने अपने लिए कुछ भी बचा कर नहीं रखा था। उसे यह सूझा ही न था कि उसे भी खाना है। अब कालिन्दी के लौटने पर उसे जैसे मालूम हुआ कि उसने अपने लिए कुछ भी नहीं बचा कर रखा है। वह अपने से रुष्ट हुई। उसका मन कठोर हुआ; इसलिए नहीं कि क्यों उसने खाना नहीं बचाया। इस पर तो उसमें स्वाभिमान का भाव जागता था। मन कठोर यों हुआ कि वह इस तरह

की बातें सोचती ही क्यों है ? छि: ! यह भी सोचने की बात है ! और उसमें कड़वाहट भी फैली। हठात् यह उसके मन को लगता ही है कि देखो, उन्होंने एक बार भी नहीं पूछा कि तुम क्या खाओगी ! क्या मैं यह सह सकती थी कि मैं तो खाऊँ और उनके मित्र भूखे रहें; पर पूछ लेने तो क्या था। इस बात पर उसका मन टूटता-सा है। मानो उसका जो तनिक-सा मान था वह भी कुचल गया हो। पर वह रह-रहकर अपने को स्वयं अपमानित कर लेती हुई कहती है कि छि: ! छि: ! सुनन्दा, तुझे ऐसी जरा-सी बात का अब तक खयाल होता है !, तुझे तो खुश होना चाहिए कि उनके लिए एक रोज भूखे रहने का तुझे पुण्य मिला। मैं क्यों उन्हें नाराज करती हूँ ? अब से नाराज न करूँगी; पर वह अपने तन की भी सुध तो नहीं रखते ! यह ठीक नहीं है। मैं क्या करूँ।

और वह अपने बरतन माँजने में लग गयी। उसे सुन पड़ा कि वे लोग फिर जोर-शोर से बहस करने में लग गये हैं। बीच-बीच में हँसी के कहकहे भी उसे सुनाई दिये। 'ओ !' सहसा उसे खयाल हुआ, 'बरतन तो पीछे भी मल सकती हूँ; लेकिन उन्हें कुछ जरूरत हुई तो ?' यह सोच, झटपट हाथ धो वह कमरे के दरवाजे के बाहर दीवार से लगकर खड़ी हो गयी।

एक मित्र ने कहा—अचार और है ? अचार और मँगाओ यार !

कालिन्दी ने अभ्यासवश जोर से पुकारा—अचार लाना भाई, अचार। मानो सुनन्दा कहीं बहुत दूर हो; पर वह तो बाहर लगी खड़ी ही थी। उसने चुपचाप अचार लाकर रख दिया।

जाने लगी, तो कालिन्दी ने तनिक स्निग्ध वाणी से कहा—थोड़ा पानी भी लाना।

और सुनन्दा ने पानी ला दिया। देकर लौटी और फिर बाहर द्वार से लगकर ओट में खड़ी हो गयी। जिससे कालिन्दी कुछ माँगे, तो जल्दी से ला दे।

सियारामशरण गुप्त

(जन्म १८९५ ई०)



जन्म चिरगाँव, झाँसी में एक वैश्य-परिवार में हुआ। आपके पिता सेठ श्री रामचरणजी कविता से बड़ा प्रेम रखते थे और स्वयं भी कवि थे। आपके अग्रज श्री मैथिलीशरण गुप्त आधुनिक हिन्दी कविता के प्रवर्तकों में से हैं। अपने अग्रज की भाँति आप भी कवि के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। आपकी अब तक ९ कविता-पुस्तकें निकल चुकी हैं। आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। आपने नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध तथा साहित्य के सभी अंगों को अपनी लेखनी से पुष्ट बनाया है। अब तक तीन उपन्यास लिख चुके हैं—गोद, अंतिम आकांक्षा और नारी। इन उपन्यासों के लिखे जाने की कथा बड़ी विचित्र है। इधर कई सालों से आप श्वास-रोग से पीड़ित हैं, जिससे साल में प्रायः आठ-नौ महीने अशक्त रहते हैं। डाक्टरों ने आपको स्थान-परिवर्तन की सलाह दी। बीमारी की ऐसी अवस्था में आपने समय काटने के लिए उपन्यास लिखे। कविता लिखी नहीं जाती थी, क्योंकि उसके लिखने में गुनगुनाना पड़ता है और ऐसा करने में खाँसी का कष्ट बाधक होता था। कहानियाँ बहुत थोड़ी लिखी हैं; पर वे सुन्दर हैं।

झूठ-सच

तीसरे खण्ड के कमरे में सामने की खिड़की खोलकर लिखने बैठा। कुछ दूर एक घर की छत पर कई दिन से एक दीवार उठ रही है। वहाँ राज है और एक मजूर स्त्री। इस जगह से दोनों काम करते दिखाई देते हैं कभी-कभी एक तीसरा आदमी दिखाई पड़ता है,—मकान-मालिक। रंग-ढंग से मालूम होता है, वह काम की देख-भाल कर जाता है।

राज कन्नी लेकर ईंटें छाँटता है और स्त्री चूना-गारा तसले में लाती है, ठीक नहीं देख सकता कि ऐसा ही होता है; पर इसके अलावा और हो क्या सकता है!

न तो राज की सूरत ठीक से देख सकता हूँ और न उस स्त्री की। कपड़े दोनों के साफ दिखाई देते हैं। राज का कपड़ा उजला है और स्त्री की धोती नीली। यह धोती मानो किसी ने दो-चार दिन पहले ही उसे खरीद कर दी हो! वे सफेद और नीले रंग धूप में चमकते हैं। सोचता हूँ, दोनों युवक और युवती हैं। इतना ही नहीं, मैं और भी बहुत कुछ सोचता हूँ। क्या आप अनुमान नहीं कर सकते कि वह क्या है? जो मैं सोचूँगा, वही आप सोचेंगे। इस समय वहाँ उस छत पर उन दो को छोड़कर और कोई नहीं है। ऐसे में वे क्या बातें करते हैं, उन्हें मैं अनुमान से ही सवा सोलह आने तक सही बता दूँगा। अनुमान हमारे कान का 'दूरबीन' है। वरन् दूरबीन से भी कुछ अधिक, क्योंकि विज्ञानवेत्ता सब तरह के छोटे-बड़े दूर-वीक्षण यन्त्र तो बाजार में सुलभ कर सके हैं; पर चाहे जहाँ की बात सुना दे सकने वाले स्वतन्त्र श्रुतियंत्र अब तक हमें नहीं दे सके। फिर भी मेरा काम रुकता नहीं है। यहीं बैठा मैं उस युवक और युवती की बातें सुनता हूँ।

क्या विश्वास नहीं होता? मेरा अविश्वास करोगे, तो संसार में न जाने कौन-कौन अविश्वसनीय हो उठेंगे। एक युवक है, दूसरी युवती। जानने की बात इतनी ही तो थी। इतना जानकर ही न जाने कितनी रचनाएँ ऐसी रची जा चुकी हैं कि जिन्हें पढ़ने के लिए ही जन्मान्तरों तक मुक्ति की कामना स्थगित रक्खी जा सकती है। इन सबको असत्य कैसे कहेंगे? उनकी नहीं कहता, जिन्हें

हजारीलाल के कहने से ही सच हो, यह हो कैसे सकता है।

लिखने के कमरे की खिड़की मैंने बन्द कर रखी है, काशीराम और पतिया उस छत पर से चले गये हैं, तब भी मेरा निज का काम रुकना नहीं चाहता। न जाने नये-नये कितने रूपों में वे दोनों मेरे सामने उपस्थित हो रहे हैं। प्रयत्न करता हूँ; पर नींद नहीं आती। आँखें बन्द कर लेने पर वे और भी स्पष्ट हो उठते हैं। अँधेरा है, सुनसान है, सब ओर सन्नाटा है; तब भी कवि सूर की भाँति रूप और दृश्य का नया सागर-सा मेरे चारों ओर उमड़ उठा है! मेरे मस्तक में गरमी है। विश्राम नहीं मिलने पाता। सोचता हूँ, इससे बचने का उपाय ही क्या? लेखक बनना है, तो यह सब मुसीबत भी झेलनी होगी। बहुत रात गये किसी तरह नींद आती भी है; किन्तु ये काशीराम और पतिया मेरा साथ नहीं छोड़ते।

जा पहुँचा हूँ पतिया के घर पर। छोटी-सी झोंपड़ी है। गली में गन्दगी इतनी कि उस तक पहुँचना भी दूभर हो उठा। घरों के नाबदान गली में पसर कर खुली वायु का सेवन करते हैं। किसी तरह कर्म-कौशल से ही इस झोंपड़ी के भीतर पहुँच सका हूँ। इसी में वह सुन्दरी रहती है। बहुत विस्मय नहीं हुआ। कमल और कीच की बात बहुत सुन रक्खी थी। दोनों के निकट सम्बन्ध का प्रमाण प्रत्यक्ष में यहीं दिखाई दिया।

एक कोठरी में पतिया की माँ खाट पर पड़ी है। हाल में ही वह बहुत कड़ी बीमारी भोग चुकी थी। कमजोरी अब भी इतनी है कि चल-फिर नहीं सकती। उसकी आँखों में नींद न थी। खटिया पर लेटे-लेटे उसने पुकारा—पतिया!—पतिया दूसरे घर में कुछ कर रही थी। वहीं से उसने कहा—चिल्लाती क्यों हो आती तो हूँ।

थोड़ी देर बाद आकर वह माँ के सिरहाने खड़ी हो गयी। बोली—अभी-अभी चिल्ला रही थी, जैसे घर में आग लग गयी हो। अब मुखार-बिन्द क्यों नहीं खुलता?

'कुछ नहीं। कहती थी, गरमी बहुत है, खुले में लिटा दे तो'—

'क्यों नहीं। खस की टट्टियाँ लगा दूँगी, दो-चार नौकर बुलवा कर रात भर पंखा डुलवाऊँगी। नहीं तो सोओगी किस तरह?—कहकर पतिया झन्नाती हुई वहाँ से चली गयी। माँ ने ओठों-ही-ओठों में न जाने क्या कहा, कुछ समझ नहीं पड़ा।

धीमे से किवाड़ खुलने की आवाज आयी। माँ ने पूछा—कौन है?

'मैं काशीराम।'

आकर वह खड़ा हो गया। इतनी रात गये उसका आना नया न था। माँ की बीमारी में इधर वह रात-रात भर रह चुका है।

माँ बोली—आओ बेटा, आओ। अरी ओ पतिया, सुन री! काशीराम आया है। कहाँ गयी है, एक बोरा तो बिछा जा।

पतिया ने जैसे सुना ही नहीं। माँ बड़बड़ाने लगी—ऐसे कुलच्छन हैं इसके। इसी से इसके भाग फूटे हैं बेटा।

थोड़ी देर में पतिया ने आकर कहा—चिल्लाकर क्यों मुहल्ले में डौंडी पीटती हो? आये हैं, तो कोई बुलाने गया था? हमारे यहाँ बैठने के लिए मेज-कुरसी नहीं है। बड़े भारी राजा-नवाब तो हैं, जो जमीन पर नहीं बैठ सकते।

काशीराम को बुरा नहीं लगा। वरन् जान पड़ा, जैसे वह प्रसन्न ही हुआ हो। बैठ वह पहले ही चुका था। उसने माँ की तबीयत का हाल पूछा, बहुत जल्द अच्छे हो जाने की सान्त्वना दी और इधर-उधर की दूसरी बातें चलायीं।

पतिया वहाँ से चली गयी थी। माँ ने शिकायत की—क्या कहूँ बेटा, यह कलमुँही मरती भी नहीं है।

'चाँद के-से टुकड़े को कलमुँही कहती हो माँ?'

'एक बार नहीं, हजार बार। इसी से तो इसके भाग फूटे हैं।'

'कलमुँही देखनी हो, तो मैं तुम्हारी बहू को यहाँ लाऊँ?'

'उसकी क्या कहते हो बेटा, वह देवता है। ऐसी बहू सब को नहीं मिलती।'

'मिलती तो नहीं है। जिसने पाप किये होते हैं, उसी को मिलती है।'—कहकर काशीराम अपने-आप हँस पड़ा।

जाते समय अकेले में काशीराम का पतिया से सामना हो गया। धीरे से हँस कर बोली—देवता के पास जा रहे हो? खूब अच्छी तरह पूजा-आरती करना।

पतिया की मुसकराहट अँधेरे में नक्षत्र की तरह झिलमिला उठी। इसके बाद दोनों ही एक साथ अदृश्य हो गये।

रात गहरी होने के साथ-साथ सब ओर सन्नाटा फैलता गया। बीच-बीच में माँ की बकझक सुनाई पड़ती थी—अरी कहाँ गयी री। इतने सबेरे सो गयी, पीने के लिए तो पानी रख जाती। प्यास के मारे गला घुटा जाता है। अरी ओ, सुन तो!

किसी ने नहीं सुना, कोई उसके पास नहीं आया।

*　　　　*　　　　*

उठ कर जिस समय खटिया पर बैठा-बैठा आँखें मलता हूँ, उस समय उजली धूप छत पर फैली हुई है। रात को गायब हुए काशीराम और पतिया, दोनों ही, अपने स्थान पर कभी के काम-काज में जुटे हैं।

देखता हूँ, नयी कृति की सामग्री मिलती ही जा रही है। स्वप्न में भी और जागृति में भी। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। ऐसे लोग हो सकते हैं, जो जागृति की बात तो मानेंगे; किन्तु स्वप्न को अस्वीकार कर देंगे। यह विचार ऐसा है कि दिन को तो मान लिया जाय और रात के लिए कहा जाय, यह असत्य है! यदि एक सत्य है, तो दूसरे को भी वैसा ही कहना पड़ेगा।

वहाँ वे दोनों, काशीराम और पतिया, ईंट, चूना और गारे के साथ जूझते हैं, और इधर मैं उन्हें बहुत दूर एकान्त में ले पहुँचा हूँ। साधारण जन उन्हें उसी जगह देखते हैं। उनमें लेखक की अन्तर्दृष्टि कहाँ? जहाँ छत पर वे दिखाई देते हैं, सचमुच में वहाँ से वे ला-पता हैं। कोई जानता नहीं है कि गये कहाँ हैं। उस छत पर काम कई दिन से रुका है। इस बीच में उन दोनों में क्या-क्या बातें हुईं, पहली रात उनकी किस जगह कटी, आगे चलकर पुलिस की आँख में उन्होंने किस तरह धूल डाली, और भी बहुत-सी बातें हैं, जिन्हें मैंने अच्छी तरह जान लिया है। वह नारी उस पुरुष का अपहरण पूर्णतया कर चुकी है। जो पुरुष के द्वारा नारी के अपहरण की बात पढ़ते रहते हैं, वे शंका करेंगे; पर वास्तव में बात वैसी है नहीं। पुरुषों के द्वारा नारी का अपहरण असाधारण होने से ही पत्रों में उस तरह प्रकाशित किया है।

अपहरण! —यही मेरे नये ग्रन्थ का नाम होगा; पर यह बाद में सोचा जायगा। इस समय तो मैं देख रहा हूँ कि ये दोनों किसी दूर के शहर में जाकर, एक नये घर में टिक चुके हैं। काशीराम दिन में जब काम की खोज में बाहर चला जाता है, तब डेरे में बैठी-बैठी पतिया आस-पास के किरायेदारों में अपनी मधुर मुसकराहट से घनिष्टता का भाव उत्पन्न करती है। यहाँ ईंट-चूने के साथ जूझते हुए भी ये इतने आगे निकल चुके हैं, इसे स्वयं तक नहीं जानते!

और आज सचमुच वह छत सूनी पड़ी है। यहाँ कई दिन पहले जो शून्यता मैंने देख ली थी, उसे दूसरे लोग आज देखते हैं। काशीराम और पतिया काम पर

नहीं आये। कई दिन इस तरह निकल जाते हैं; किन्तु वे दिखाई नहीं पड़ते। अचानक उस छत का काम रुक गया है, यह दूसरे लोग भी देख रहे हैं। वहाँ छत का काम रुका है, परन्तु मेरे निर्माण में कोई बाधा नहीं पड़ी। उसमें तेजी ही आयी है।

*　　　*　　　*

आज हजारीलाल के पास चला गया था। मैंने पूछा—तुम्हारे काशीराम और रधिया का क्या हाल है?

बोले—पता नहीं। कई दिनों से काम बन्द है।

मैंने मुसकराकर कहा—वही तो। कई दिन से छत सूनी दिखाई पड़ती है।

हजारीलाल कहने लगे—हाँ, तुम उस ऊपर वाले कमरे में बैठते हो। एक दिन अपनी छत पर से जान पड़ा था कि तुम होगे। कहो, आजकल क्या लिखा जा रहा है? इधर तुम्हारी तारीफ बहुत सुनी है।

मैंने कहा—'तारीफ सुनी है'—यह मेरे लिए तो तारीफ नहीं हुई। इतने निकट से उसे तुम देख नहीं सके, उसे तुमने सुना भर है!

हजारीलाल ने कुछ लज्जित होने का भाव दिखाया। कहने लगे—हाँ भाई, तुम्हारी किसी चीज को अभी तक पढ़ा तो नहीं है। क्या करूँ, काम-काज के मारे फुर्सत नहीं मिलती।

'फुर्सत नहीं मिलती, फिर भी दूकान पर तुम्हारे यहाँ घंटों पौबारह की धूम रहती है। तुम्हें बधाई!'

'बात यह है कि खेलने से जी हरा रहता है। और यह भी कि तुम-जैसे बड़े लेखकों की बातें हम-जैसे की समझ में नहीं आतीं।'

'किस बड़े लेखक की चीज तुमने पढ़ी थी, मैं भी तो सुनूँ।'

जान पड़ा, हजारीलाल जैसे अब तक अपना गला ही गरम कर रहे थे। अब कोई बात वे सुनाएँगे। बोले—यों ही उनकी एक पुस्तक हाथ में आ गयी थी। पुस्तक का विज्ञापन अखबारों में इतने मोटे-मोटे अक्षरों में हो रहा था, जैसे कहीं महायुद्ध छिड़ा हो। सब पढ़े-लिखे लोगों में उसी की चर्चा। सो ऐसे-ही-ऐसे में एक मित्र के कमरे में वह दिखाई दे गयी। मैंने पढ़ने के लिए उसे चाहा, तो मित्र की तो यह हालत, जैसे मैं उनकी हवेली लूट लूँगा। हिम्मत के साथ उनका सामना करके किसी तरह पुस्तक उठा ही लाया; परन्तु जाने दूँ। प्रशंसा करूँ तो वाह-

मुझे देखकर हजारीलाल ने कहा—लो, ये आ गये। इनकी सलाह लो।

बात क्या है?—मैंने पूछा।

काशीराम चुपचाप किसी विचार में डूबा रहा, उसके कान तक मेरी बात पहुँच नहीं सकी। आँखों में उसके पागलपन-जैसी चमक थी। मैंने फिर पूछा—बात क्या है? अब की बार उसने मेरी ओर देखकर हाथ जोड़े। बोला—बात कुछ नहीं है, जो कुछ होना है, हो जायगा। मैं उसका गला घोंट दूँगा।

'गला किसलिए घोंटोगे? क्या उसने तुम्हारी गर्दन पर छुरी फेर दी थी, जो इस तरह बदला लोगे?'

'गर्दन पर? गर्दन पर नहीं, कलेजे पर। मैं इसका मजा चखा दूँगा।'

'बिगड़ो मत, समझदारी की बात करो। किसलिए उसे मजा चखाओगे? तुमने भी तो कोई बुराई उसकी की होगी।'

काशीराम ने हजारीलाल की ओर मुड़कर कहा—सुना मालिक? कहते हैं, मैंने उसकी बुराई की होगी। बुराई करनी होती, तो उसे उसी दिन सात साल चक्की पीसने के लिए भिजवा देता। वह तो जानवर है, इसी से नेकी की बात इतने जल्द भूल गया है।

मैं सँभला। यह स्त्री का मामला नहीं, कोई दूसरी बात है। मैंने कहा—इस तरह बात समझ में नहीं आती। खुलासा सब हाल कहो। अगर कोई जानवर है, तो उसके साथ वैसा ही बर्ताव किया जायगा।

इसी तरह कुछ और दिलासा दिये जाने पर सँभल कर उसने कहना प्रारम्भ किया—पिछले जेठ की ही तो बात है। उस दिन वहाँ का एक आदमी आकर कह गया, रधिया को उसके घरवाले ने दो दिन से अपने घर में ताला लगाकर बन्द रक्खा है। खाने-पीने तक को उसने उसे नहीं दिया। यह कैसी बात! मेरा जी घबराया। उसी समय हाथ का कौर थाली में पटक कर मैं उस गाँव के लिए चल पड़ा। जब वहाँ पहुँचा, रात के आठ-नौ का समय होगा। सुनी हुई बात सब सच निकली। गिरधारी शराब पिये औंधे मुँह पड़ा था। उस कोठरी तक पहुँचने में रुकावट नहीं हुई, जहाँ रधिया ताले में बन्द थी। ताला ऐसा था कि बिना चाबी के खोलने में कठिनाई नहीं हुई। हाथ पकड़ कर कोठरी के भीतर से उसे निकाला। पूछा—यह क्या हाल है री तेरा? बोली—पहले दो घूँट पानी। प्यास के मारे गला सूखा जाता है।—गिरधारी पर ऐसा गुस्सा आया कि अभी इसका गला

घोंट दूँ। एक लोटा पानी भर कर दिया, तो रविया गटगट करके उसी दम उसे पूरा-का-पूरा पी गयी। बाद में मालूम हुआ कि गिरधारी ने किसी की चोरी की थी। रधिया ने रोका कि यह अच्छी बात नहीं। बस इसी बात को लेकर झगड़े की गाँठ दोनों में पड़ गयी। दूसरे-तीसरे दिन ही यह बहाना लेकर उस कसाई ने रविया को बन्द कर दिया कि तुझे रोटी करनी नहीं आती। मैंने कहा—मैं थाने में खबर करता हूँ, चोरी का माल अभी घर में होगा; तभी लालाजी के होश ठिकाने होंगे रधिया मेरे पैरों पड़ गयी—ना-ना, ऐसा न करो; ऐसा जानती तो तुमसे न कहती। —वह तो रोने-चिल्लाने लगी। मैंने कहा—मर अभागी, इसी तरह मर! अब कहो, यह मैंने उसकी बुराई की, जो उसी दिन उसे जेल नहीं भिजवाया?—तब फिर उसी रात रधिया को मैं वहाँ से भगा लाया। भगा न लाता, तो उसकी जान न बचती।

'जानता हूँ, सब जानता हूँ, कानून तो यही कहता है कि गाय की गर्दन कट जाने दो, कुछ बोलो मत। मैं ऐसे किसी कानून को नहीं मानता।'

थोड़ी देर में काशीराम शान्त हुआ। रविया का नाम लेते ही जान पड़ता था, उसके बचनों में चन्दन का लेप होता हो। कहने लगा—घर लाकर मैंने रविया से कहा—देख री, अब मैं तुझे वहाँ जाने न दूँगा। वहाँ गयी तो जीती न बचेगी। इसी घर में रूखा-सूखा पाकर मालकिन की तरह रह। यहाँ आकर वह झाँकेगा, तो उसके दाँत तोड़ दूँगा। बोली—अब वहाँ जाऊँगी? मैं ऐसी नहीं हूँ।—मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। किसी बात की कमी न थी। मालिक का काम करते थे, और पैर पसार कर रात को सुख की नींद लेते थे। किसी बात का कोई खटका न था। बीच में एकाध बार गिरधारी दिखाई दिया; पर मेरे डंडे को देखकर उसकी हिम्मत नहीं हुई कि कुछ कहे। रधिया कितनी सीधी है, यह तो तुम जानते ही हो मालिक; पर उस दिन मैंने सुना कि गिरधारी को उसने भी ऐसा फटकारा कि जिसका नाम। जिस दिन रधिया को लाया था, उस दिन उसकी हालत थी, जैसे महीने भर की लंघनें कर चुकी हो। यहाँ थोड़े ही दिनों में वह फूल-सी खिलने लगी। मैंने सोचा कि अब कुछ ऐसा करना चाहिए, जिसमें आगे किसी तरह का खटका न रहे। इसी बीच में वहाँ के किसी आदमी ने सुनाया कि गिरधारी बीमार है। सुनकर रधिया का चेहरा फीका पड़ गया। पूछने लगी—कैसी बीमारी है? मैंने कहा—होगी किसी तरह की, तू तो अपना काम देख। वह चुप रह गयी।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

(जन्म १९०६ ई०)



आपका जन्म पश्चिमोत्तर पंजाब के एक गाँव कोटअद्दू में हुआ। शिक्षा गुरुकुल काँगड़ी, हरिद्वार में आपने प्राप्त की। आपकी १९२८ में पहली कहानी 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुई। अब तक 'चन्द्रकला', 'भय का राज्य' तथा 'अमावस' नाम के तीन कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। अब से ५-६ वर्ष पूर्व आपने हिन्दी-कहानियों के विकास पर एक आलोचनात्मक लेख 'विशाल भारत' में लिखा था। इस लेख ने उन सब कहानी-लेखकों का, जिनकी इसमें आलोचना की गयी थी, ध्यान आकर्षित किया और पत्र-पत्रिकाओं में काफी चर्चा रही। आपके इसी लेख को ध्यान में रखकर एक आलोचक ने लिखा है कि आप में कहानी-लेखक होने की अपेक्षा कहानी के समालोचक होने की प्रतिभा अधिक है; परन्तु यहाँ जो कहानी दी जा रही है, उससे सिद्ध होता है कि आप सुन्दर कहानी लिखते हैं। कहानियों के अलावा आपने नाटक तथा एकांकी नाटक भी लिखे हैं।

हूक

जब तक गाड़ी नहीं चली थी, बलराज जैसे नशे में था। यह शोर-गुल से भरी दुनिया उसे एक निरर्थक तमाशे के समान जान पड़ती थी। प्रकृति उन दिन उग्र रूप धारण किये हुए थी। लाहौर का स्टेशन। रात के साढ़े नौ बजे। कराची एक्स-प्रेस जिस प्लेटफार्म पर खड़ी थी, वहाँ हजारों मनुष्य जमा थे। ये सब लोग बलराज और उसके साथियों के प्रति, जो जानबूझ कर जेल जा रहे थे, अपना हार्दिक सम्मान प्रकट करने आये थे। प्लेटफार्म पर छायी हुई टीनों पर वर्षा की बौछारें पड़ रही थीं। धू-धू करके गीली और भारी हवा इतनी तेज चल रही थी कि मालूम होता था, वह इन सम्पूर्ण मानवीय निर्माणों को उलट-पुलट कर देगी, तोड़-फोड़ डालेगी। प्रकृति के इस महान् उत्पात के साथ-साथ जोश में आये हुए उन हजारों छोटे-छोटे निर्बल-से देहधारियों का जोशीला कंठस्वर, जिहें 'मनुष्य' कहा जाता है——

बलराज राजनीतिक पुरुष नहीं है ! मुल्क की बातों से या कांग्रेस से उसे कोई सरोकार नहीं। वह एक निठल्ला कलाकार है। माँ-बाप के पास काफी पैसा है। बलराज पर कोई बोझ नहीं। यूनिवर्सिटी से एम० ए० का इम्तहान इज्जत के साथ पास करके वह लाहौर में ही रहता है। लिखता-पढ़ता है, कविता करता है, तसवीरें बनाता है और बेफिक्री से घूम-फिर लेता है। विद्यार्थियों में वह बहुत लोकप्रिय है। माँ-बाप मुफस्सिल में रहते हैं, और बलराज को उन्होंने सभी तरह की आजादी दे रखी है।

ऐसा निठल्ला बलराज कभी कांग्रेस-आन्दोलन में शामिल होकर जेल जाने की कोशिश करेगा, इसकी उम्मीद किसी को नहीं थी। किसी को मालूम नहीं कि कब और क्यों उसने यह अनहोनी बात करने का निश्चय कर लिया। इतना ही मालूम है कि बारह बजे के करीब विदेशी कपड़े की किसी दूकान के सामने जाकर उसने दो-एक नारे लगाये, चिल्लाकर कहा कि विदेशी वस्त्र पहनना पाप है, दो-एक भलेमानसों से प्रार्थना की कि वे विलायती माल न खरीदें। नतीजा यह हुआ कि वह गिरफ्तार कर लिया गया। उसी वक्त उसका मामला अदालत में पेश हुआ और उसे छः महीने की सादी सजा सुना दी गयी। बलराज के दोस्तों को

यह समाचार तब मालूम हुआ, जब एक बन्द लारी में बैठालकर उसे मिन्टगुमरी जेल में भेजने के लिए स्टेशन की ओर रवाना कर दिया गया।

लोग, विशेषकर कालेजों के विद्यार्थी—बलराज के जय-जयकारों से आसमान गुँजा रहे थे; परन्तु वह जैसे जागते हुए भी सो रहा था। चारों ओर का विक्षुब्ध वातावरण आसमान से गाड़ी की छत पर अनन्त वर्षा की बौछार और हजारों कंठों का कोलाहल—बलराज के लिए जैसे यह सब निरर्थक था। उसकी आँखों में गहरी निराशा की छाया थी, उसके मुँह पर विषाद-भरी गहरी गम्भीरता अंकित थी और उसके होंठ जैसे सी दिये गये थे। उसके दोस्त उससे पूछते थे कि आखिर क्या सोचकर वह जेल जा रहा है; परन्तु वह जैसे बहरा था, गूँगा था—न कुछ सुनता था, न कुछ बोलता था।

कांग्रेस के उन पन्द्रह-बीस स्वयंसेवकों में बलराज एक को भी नहीं जानता था, और न उसके कपड़े ही खद्दर के थे; परन्तु उन सब वालंटियरों में एक भी व्यक्ति उसके समान पढ़ा-लिखा, प्रतिभाशाली और सम्पन्न घराने का नहीं था। इससे वे सब बलराज को इज्जत की निगाह से देख रहे थे। गाड़ी चली, तो उन सब ने मिलकर कोई गीत गाना शुरू किया, और बलराज अपनी जगह से उठ कर दरवाजे के सामने जा खड़ा हुआ। डिब्बे की सभी खिड़कियाँ बन्द थीं। बलराज ने दरवाजे पर की खिड़की खोल डाली। एक ही क्षण में वर्षा के थपेड़ों से उसका सम्पूर्ण मुँह भींग गया। बाल बिखर गये; मगर बलराज ने इसकी परवा नहीं की। खिड़की खोले वह उसी तरह खड़ा रहकर बाहर के घने अन्धकार की ओर देखने लगा, जैसे इस सघन अन्धकार में बलराज के लिए कोई गहरी मतलब की बात छिपी हुई हो।

एक स्वयंसेवक ने बड़ी इज्जत के साथ बलराज से कहा—आप बुरी तरह भींग रहे हैं। इच्छा हो, तो इधर आकर लेट जाइए।

बलराज ने इस बात का कोई जवाब नहीं दिया; परन्तु जिस निगाह से उसने उस स्वयंसेवक की ओर देखा, उससे फिर किसी को यह हिम्मत नहीं हुई कि वह उससे कुछ और अनुरोध कर सके।

खिड़की से सिर बाहर निकालकर बलराज देख रहा है। उस घने अन्धकार में न जाने किस-किस दिशा से आ-आकर वर्षा की तीखी-सी बूँदें उसके शरीर पर पड़ रही हैं, न जाने किधर की सनकती हुई हवा उसके बालों को झटके दे-देकर

कभी इधर और कभी उधर हिला रही है।

इस घने अन्धकार में, जैसे बिना किसी बाधा के, बलराज ने एक ठंडी साँस ली। उसकी इस बाधा-विहीन ठंडी साँस ने जैसे उसकी आँखों के द्वार भी खोल दिये। बलराज की आँखों में आँसू भर आये, और प्रकृति-माता के आंचल का पानी मानो तत्परता के साथ उसके आँसुओं को धोने लगा।

इसके बाद बलराज को कुछ जान नहीं पड़ा कि किसने कब और किस तरह धीरे से उसे एक सीट पर लिटा दिया। किसी तरह की आपत्ति किये बिना वह लेट गया, और उसी क्षण उसने आँखें मूंद लीं।

२

चार साल पहले की बात है।

पहाड़ पर आये बलराज को अधिक दिन नहीं हुए। वह अकेला ही यहाँ चला आया था। अपने होटल में दोपहर का भोजन करके, रात की पोशाक पहनकर, वह अभी लेटा ही था कि उसे दरवाजे पर थपथपाहट की आवाज सुनाई दी। बलराज चौंक कर उठा और उसने दरवाजा खोल दिया। उसका खयाल था कि शायद होटल का मैनेजर किसी जरूरी काम से आया होगा, अथवा कोई डाक-वाक होगा। मगर नहीं, दरवाजे पर एक महिला खड़ी थी—बलराज की रिश्ते की बहन। वह यहाँ मौजूद है, यह तो बलराज को मालूम था; परन्तु उसे बलराज का पता कैसे ज्ञात हो गया। इस सम्बन्ध में वह कुछ भी सोच नहीं पाया था कि उसकी निगाह एक लड़की पर पड़ी, जो उसकी बहन के साथ थी। बलराज खुली तबीयत का युवक नहीं है; फिर भी उस लड़की के चेहरे पर उसे एक ऐसी मुसकान-सी दिखाई दी, जो मानो पारदर्शक थी। मुस्कराहट की ओट में जो हृदय था, उसकी झलक यहाँ साफ-साफ देखी जा सकती थी; बलराज ने अनुभव किया, जैसे इस लड़की को देख कर उसका चित्त आह्लाद से भर गया है।

उसी वक्त आग्रह के साथ वह उन दोनों को अन्दर ले गया। कुशल-क्षेम की प्रारम्भिक बातों के बाद बलराज की बहन ने उस बालिका का परिचय दिया—यह कुमारी ऊषा हैं—अभी दसवीं क्लास में पढ़ रही हैं।

बलराज की बहन करीब एक घंटे तक वहाँ रही। सभी तरह की बातें उसने बलराज से कीं; परन्तु ऊषा ने इस सम्पूर्ण बातचीत में जरा भी हिस्सा नहीं लिया। अपनी आँखें नीची करके और अपने मुँह को कोहनी पर टेक कर वह लगातार

उसका ध्यान हट गया और लज्जा से उसका मुँह नीचे की ओर झुक गया।

इसी समय बलराज की बहन ने अपने भाई से कहा—ऊषा को लिखने का शौक भी है। तुमने उसकी कोई चीज पढ़ी है ?

बलराज ने उत्सुकतापूर्वक कहा—कहाँ ? जरा मुझे भी तो दिखाइए।

ऊषा अभी इस बात का कोई जवाब दे नहीं पायी थी कि बलराज ने किताबों के ढेर में से एक और कापी खींच निकाली। यह कापी अंग्रेजी अनुवाद की थी। इस अनुवाद में भी खाली जगह का प्रयोग हाथ, नाक, कान, मुँह आदि बनाने में किया गया था। बलराज पृष्ठ पलटता गया। एक जगह उसने देखा कि 'मेरा घर' शीर्षक एक सुन्दर गद्य कविता ऊषा ने लिखी है। बलराज ने इसे एक ही निगाह में पढ़ लिया। पढ़कर उसने सन्तोष की एक साँस ली, प्रशंसा के दो-एक वाक्य कहे और इसी सम्बन्ध में अनेक प्रश्न ऊषा से कर डाले।

पन्द्रह-बीस मिनट इसी प्रकार निकल गये। उसके बाद किसी काम से ऊषा को नीचे चला जाना पड़ा। बलराज ने तब एक और छोटी-सी नोटबुक उस ढेर में से खोज निकाली। इस नोटबुक के पहले पृष्ठ पर लिखा था—'निजी और व्यक्तिगत'। मगर बलराज इस कापी को देख डालने के लोभ का संवरण न कर सका। कापी के सफे उसने पलटे। देखा एक जगह बिना किसी शीर्षक के लिखा था—

ओ मेरे देवता !

"तुम कौन हो, कैसे हो, कहाँ हो—मैं यह सब कुछ नहीं जानती; मगर फिर भी मेरा दिल कहता है कि सिर्फ तुम्हीं मेरे हो, और मेरा कोई भी नहीं।"

"रात बढ़ गयी है। मैंने अपनी खिड़की खोल डाली है; चारों ओर गहरा सन्नाटा है। सामने की ऊँची पहाड़ी की बर्फीली चोटियाँ चाँदनी में चमक रही हैं। घर के सब लोग सो गये हैं। सारा नगर सो गया है; मगर मैं जाग रही हूँ। अकेली मैं। पढ़ना चाहती थी; मगर और नहीं पढ़ूँगी। पढ़ नहीं सकूँगी। सो भी नहीं सकूँगी; क्योंकि उन बर्फीली चोटियों पर से तुम मुझे पुकार रहे हो ! मैंने तो तुम्हारी पुकार सुन ली है; परन्तु मन-ही-मन तुम्हारी उस पुकार का जो मैं जवाब दूँगी, उसे क्या तुम सुन सकोगे, मेरे देवता ! "

वह पृष्ठ समाप्त हो गया। बलराज अगला पृष्ठ पलट ही रहा था कि ऊषा कमरे में आ पहुँची। बलराज के हाथ में कापी देख कर वह तड़प-सी उठी। सहसा

शरीर-भर में एक कम्पन-सा दौड़ गया। मुमकिन था कि बलराज की नींद उचट जाती; परन्तु इसी समय गाड़ी चलने लगी और उसके हल्के-हल्के झूलों ने उसके उनींदेपन को दूर कर दिया।

५

शरमीली तबीयत का होते हुए भी बलराज काफी सामाजिक है। अपरिचित या अल्प-परिचित लोगों से मिलना-जुलना और उन पर अच्छा प्रभाव डाल सकना उसे आता है; परन्तु न जाने क्या कारण है कि ऊषा के सामने आकर वही बलराज कुछ भीगी बिल्ली-सा बन जाता है। ऊषा अब लाहौर के एक कालेज के तीसरे वर्ष में पढ़ रही है। अब वह सुसंस्कृत, सभ्य और सामाजिक नवयुवती बन गयी है। बलराज स्थानीय कालेजों के विद्यार्थियों में अत्यधिक लोकप्रिय है। सभा-सोसाइटियों में खूब हिस्सा लेता है। बहुत अच्छा भाषण दे सकता है। वह कवि है, लेखक है, चित्रकार है। और ऊषा भी जानती है कि वह सभी कुछ है। इसी कारण वह बलराज को विशेष इज्जत की निगाह से देखती है; परन्तु बलराज जब ऊषा के सामने पहुँचता है, तब वह बड़ी निराशा के साथ अनुभव करता है कि उसकी वह सम्पूर्ण प्रतिभा, ख्याति और वाक्-शक्ति न जाने कहाँ जाकर छिप गयी है।

सूरज डूब चुका था, और बलराज लारेंस बाग की सैर कर रहा था। अँधेरा बढ़ने लगा, और सड़कों की बत्तियाँ एक साथ जगमगा उठीं। बाग में एक कृत्रिम पहाड़ी है। उस पहाड़ी के पीछे की सड़क पर अधिक आवागमन नहीं रहता। बलराज आज कुछ उदास और दुखी था। वह धीरे-धीरे इसी सड़क पर बढ़ा चला जा रहा था।

इसी समय उसके नजदीक से एक ताँगा गुजरा। बलराज ने उड़ती निगाह से देखा, ताँगे पर दो युवतियाँ सवार हैं। अगले ही क्षण एक लड़की ने बलराज को प्रणाम किया। बलराज के शरीर-भर में आह्लाद की लहर-सी घूम गयी। ओह, यह तो ऊषा है! बलराज ने ऊषा के प्रणाम का कुछ इस तरह जवाब दिया, जिससे उसने समझ लिया कि जैसे वह उसे ठहरने का इशारा कर रहा है। ताँगा कुछ दूर निकल गया था। ऊषा ने ताँगा ठहरवा लिया और स्वयं उतर कर बलराज के निकट चली आयी। आते ही बड़े सहज भाव से उसने पूछा—कहिए, क्या बात है?

बलराज को कुछ भी तो नहीं सूझा। उसने ताँगा ठहराने का इशारा बिलकुल

नहीं किया था; परन्तु यह बात वह इस वक्त किस तरह कहता ! नतीजा यह हुआ कि बलराज उषा के चेहरे की ओर ताकता रह गया ।

ऊषा कुछ हतप्रभ-सी हो गयी । फिर भी, बात चलाने की गरज से, उसने कहा—आपकी 'सराय पर' शीर्षक कविता मैंने कल ही पढ़ी थी । आपने कमाल कर दिया है ।

बलराज ने यों ही पूछ लिया—आपको वह पसन्द आयी ?

'खूब ।'

इसके बाद बलराज फिर से चुप हो गया । शायद उसके हृदय में अनेक भावों की आँधी-सी उठ खड़ी हुई कि कुछ भी व्यक्त कर सकना उसके लिए आसान नहीं था । जिस तरह तंग गले की बोतल ऊपर तक भर दी जाने के बाद, अपनी आन्तरिक प्रचुरता के कारण ही, उलटा देने पर भी खाली नहीं हो पाती, उसी तरह बलराज के हार्दिक भावों की घनता ही उसे मूक बनाये हुए थी । ऊषा प्रणाम कर के लौटने ही लगी थी कि बहुत धीरे-से बलराज ने पुकारा—ऊषा !

ऊषा घूम कर खड़ी हो गयी । मुँह से उसने कुछ भी नहीं कहा; परन्तु उसकी आँखों में एक बड़ा-सा प्रश्नवाचक चिह्न साफ तौर से पढ़ा जा सकता था ।

बलराज ने बड़ी शिथिल आवाज में कहा—आपको देख कर न जाने मुझे क्या हो जाता है !

ऊषा यह सुनने के लिए तैयार न थी । फिर भी वह चुपचाप खड़ी रही ।

क्षण-भर रुक कर बलराज ने कहा—आप सोचती होंगी, यह अजब बेहूदा आदमी है । न हँसना जानता है, न बोलना जानता है; मगर सच मानिए...।

बीच ही में बाधा देकर ऊषा ने कहा—मैं आपके बारे में कभी कुछ नहीं सोचती; मगर आपको यह होता क्या जा रहा है ?

बलराज के चेहरे पर हवाइयाँ-सी उड़ने लगीं । उसे ऊषा के स्वर में कुछ कठोरता-सी प्रतीत हुई । तो भी बड़े साहस के साथ उसने कहा—मैं अपने आन्तरिक भाव व्यक्त नहीं कर सकता ।

ऊषा ने चाहा कि वह इस गम्भीरतम बात को हँस कर उड़ा दे; मगर कोशिश करने पर भी वह हँस न सकी । वह कुछ भयभीत-सी हो गयी । उसने कहा—मैं जाती हूँ ।

और वह घूम कर चल दी ।

बलराज एक कदम आगे बढ़ा। उसके जी में आया कि वह लपक कर ऊषा का हाथ पकड़ ले; परन्तु वह ऐसा न कर सका।

एक कदम आगे बढ़कर वह पीछे की ओर घूम गया। उसी वक्त ताँगे पर से एक नारी कंठ सुनाई दिया—ऊषा ! ऊषा !!

६

अभी परसों की ही बात है।

गरमियों की इन छुट्टियों में लाहौर से दो टोलियाँ सैर के लिए चलने वाली थीं—एक सीमाप्रान्त की ओर, दूसरी कुल्लू से शिमला के लिए। इस दूसरी टोली का संगठन बलराज ने किया था, और वही इस टोली का मुखिया भी था।

ऊषा के दिल में अभी तक बलराज के लिए आदर और सहानुभूति के भाव थे। बलराज के मानसिक अस्वास्थ्य को देखकर उसे सचमुच दुःख होता था। वह अपने स्वाभाविक सहज व्यवहार द्वारा बलराज के इस मानसिक अस्वास्थ्य की चिकित्सा कर डालना चाहती थी। और सम्भवतः यही कारण था कि वह उसके साथ, अन्य दो-तीन लड़कियों के समेत, कुल्लू-यात्रा पर जाने को भी तैयार हो गयी थी।

परन्तु अभी परसों की बात है। शाम के समय बलराज ने अपनी पार्टी के सभी सदस्यों को चाय पर निमंत्रित किया। घंटे-दो-घंटे के लिए बलराज के यहाँ अच्छी चहल-पहल रही। हँसी-मजाक हुआ, गाना-बजाना हुआ, और पर्वत-यात्रा के विस्तृत प्रोग्राम पर भी विचार होता रहा।

चाय के बाद, सभी लोग चले गये, बलराज उषा को उसके निवास-स्थान तक पहुँचाने के लिए साथ चल दिया। उषा ने इस बात पर कोई आपत्ति नहीं की।

माल रोड पर पहुँच कर बलराज ने प्रस्ताव किया कि ताँगा छोड़ दिया जाय और पैदल ही लारेंस बाग का चक्कर लगा कर घर जाया जाय। उषा ने यह प्रस्ताव भी बिना किसी बाधा के स्वीकार कर लिया।

दोनों जने ताँगे से उतर कर पैदल चलने लगे। उषा ने अनेक बार यह प्रयत्न किया कि कोई बातचीत शुरू की जाय। बलराज भी आज अपेक्षाकृत कम उद्विग्न प्रतीत हो रहा था। फिर भी बात मानो चली नहीं। पनप नहीं पायी।

क्रमशः वे दोनों नकली पहाड़ी के पीछे की सड़क पर आ पहुँचे। आज भी साँझ डूब चुकी थी, और सड़कों पर की बत्तियाँ जगमगाने लगी थीं।

इस निस्तब्धता में दोनों चुपचाप चले जा रहे थे कि मौलश्री के एक घने पेड़ के नीचे पहुँच कर बलराज सहसा रुक गया।

ऊषा ने भी खड़े होकर पूछा—आप रुक क्यों गये ?

बलराज ने कहा—उस दिन की बात याद है ?

उसका स्वर भारी होकर लड़खड़ाने लगा था। ऊषा कुछ घबरा-सी गयी। बात टाल देने की गरज से उसने कहा—चलिए, वापस लौट चला जाय। देर हो गयी है।

मगर बलराज अपनी जगह से नहीं हिला। मालूम होता था कि उसके दिल में कोई चीज इतनी जोर से समा गयी है कि वह उसका दम घोंटने लगी है। बलराज के चेहरे पर पसीने की बूँदें चमकने लगीं। काँपते हुए स्वर में उसने कहा—ऊषा ! अगर तुम जानती कि मैं दिन-रात क्या सोचता रहता हूँ !

ऊषा अब भी चुप थी। उसके हृदय में विद्रोह की आग भभक पड़ी; मगर फिर भी वह चुपचाप खड़ी रही। सहन करती रही।

बलराज ने फिर से कहा—ऊषा ! तुम मुझ पर तरस खाओ। मुझ पर नाराज मत होओ।

ऊषा ने कठोर और दृढ़ स्वर में कहा—आपको नहीं मालूम क्या हो गया है। अगर आपने अब एक भी बात इस तरह की और कही तो मैं आपसे कभी नहीं बोलूँगी।

बलराज यह सुनकर भी सँभल नहीं सका। उसकी आँखों में आँसू भर आये और बड़े अनुनय के साथ उसने ऊषा का हाथ पकड़ लिया।

ऊषा ने तड़प कर अपना हाथ छुड़ा लिया और वह शीघ्रता से एक तरफ को बढ़ चली। चलते हुए, बहुत ही निश्चयपूर्ण स्वर में वह कहती गयी—मैं आपके साथ कुल्लू नहीं जाऊँगी।

कुछ ही दूरी पर ऊषा को एक खाली ताँगा मिला। उस पर सवार होकर वह अपने घर की ओर चली गयी।

अगले दिन सुबह बलराज ने अपनी पार्टी के सभी सदस्यों के नाम इस बात की सूचना भेज दी कि वह कुल्लू नहीं जा सकेगा। किसी को मालूम भी नहीं हो पाया कि माजरा क्या है और सम्पूर्ण पार्टी बर्खास्त हो गयी।

सीमा-प्रान्त की ओर जाने वाली पार्टी आज सुबह की गाड़ी से ही पेशावर

के लिए रवाना हुई है। अब से सिर्फ १४ घंटे पहले। इस पार्टी को विदा देने के लिए बलराज भी स्टेशन पर पहुँचा था। ऊषा भी इसी पार्टी के साथ गयी थी। अपने माँ-बाप से यात्रा पर जाने की अनुमति प्राप्त करके कहीं भी न जाना उसे उचित प्रतीत नहीं हुआ। स्टेशन पर ही बलराज ने इस पार्टी को कई तरह की नसीहतें दीं। किसी को उसके आचरण में असाधारणता जरा भी प्रतीत नहीं हुई; परन्तु गाड़ी चलने से पहले ही चुपचाप सबसे पृथक् होकर वह तीसरे दर्जे के मुसाफिरों की भीड़ में जा मिला।

बलराज स्टेशन से बाहर आया, तो दुनिया जैसे उसके लिए अन्धकारपूर्ण हो गयी थी। आसमान में सूरज विना किसी बाधा के चमक रहा था। सड़कों पर लोग सदा की तरह आ-जा रहे थे। दुनिया के सभी कारोबार उसी तरह जारी थे; परन्तु बलराज के लिए जैसे सभी ओर सूनापन व्याप्त हो गया था। कहीं कुछ भी आकर्षण बाकी न रहा था। सभी कुछ नीरस, फीका—बिलकुल फीका हो गया था।

सड़क के किनारे, फुटपाथ पर, बलराज धीरे-धीरे बिलकुल निरुद्देश भाव से चला जा रहा है। हजारों-लाखों मनुष्यों से भरी नगरी बलराज के लिए जैसे बिलकुल निर्जन और सुनसान बन गयी है। रह-रह कर जो इतने लोग उसके निकट से निकल जाते हैं, उसकी निगाह में जैसे बिलकुल व्यर्थ और निर्जीव हैं; चलती-फिरती पुतलियों से बढ़ कर और कुछ भी नहीं।

एक खाली ताँगा बड़ी धीमी रफ्तार में चला आ रहा था। उसका कोचवान बड़ी मस्त और करुण-सी आवाज में गाता चला आता था —

दो पहर अनाराँ दे !
फल मिल जाँदे, बोल न जाँ दे, याराँ दे।
दो पहर अनाराँ दे,
सड़ गयी जिन्दड़ी, लग गये ढेर अँगारा दे !

बलराज ने यह सुना और उसके दिल में एक गहरी हूक-सी उठ खड़ी हुई। [नि]ष्प्रयोजन वह धीरे-धीरे आगे बढ़ता चला गया, अन्त में अनायास ही उसने [अ]पने को विदेशी कपड़ों की एक दूकान के सामने पाया।

*　　　*　　　*

गाड़ी उड़ी चली जा रही है, और बलराज सपना देख रहा है। दुनिया

के किसी एक कोने में मौलश्री का एक बहुत बड़ा पेड़ है। अकेला—बिलकुल अकेला। चारों ओर सघन अन्धकार है। सिर्फ इसी वृक्ष के ऊपर-नीचे, आस-पास उजेला है। चारों तरफ क्या है, कुछ है भी या नहीं—कुछ नहीं मालूम। ठण्डी, सनसनाती हुई हवा चल रही है। पेड़ के पत्ते ऊँची आवाज में इस तरह साँय-साँय कर रहे हैं, जैसे रेलगाड़ी भागी जा रही हो। इस पेड़ के नीचे सिर्फ दो ही व्यक्ति हैं—ऊषा और बलराज। ऊषा बलराज से बहुत दूर हटकर बैठना चाहती है; परन्तु बलराज उसका पीछा करता है। वह जिधर जाती है, धीरे-धीरे उसी की ओर बढ़ने लगता है। ऊषा कहती है—'मेरे निकट मत आओ।' परन्तु बलराज नहीं सुनता। वह बढ़ता चला जाता है और अन्त में लपक कर ऊषा को पकड़ लेता है। ऊषा उससे बहुत नाराज हो गयी है। वह कहती है, मैं तुम्हें अकेला छोड़ जाऊँगी। सदा के लिए, अनन्त काल के लिए, फिर कभी तुम्हारे पास न आऊँगी। बलराज उससे माँफी माँगता है, गिड़गिड़ाता है; परन्तु वह नहीं सुनती। चल देती है, एक तरफ को। गहरे अन्धकार में। बलराज चिल्ला रहा है और ऊषा उसकी पुकार सुने बिना अन्धकार में विलीन होती जा रही है।

गाड़ी की रफ्तार बहुत धीमी हो गयी। उनींदी-सी दशा में बलराज बड़े ही कातर स्वर में धीरे से पुकार उठा—ऊषा! ऊषा! तुम लौट आओ, ऊषा!

इसी वक्त एक सिपाही ने चिल्लाकर कहा—उठो! मिन्टगुमरी का स्टेशन आ गया!

बलराज चौंक कर उठ बैठा। उसने देखा, रात के दो बजे है, और उसके हाथों में हथकड़ियाँ पड़ी हुई हैं।

'इन्कलाब जिन्दाबाद' और 'महात्मा गाँधी की जय' के नारों से मिन्टगुमरी का रेलवे प्लेटफार्म सहसा गूँज उठा।

भगवतीचरण वर्मा

(जन्म १९०३ ई०)



आपका जन्म शफीपुर, जिला उन्नाव में हुआ। आपने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी० ए० और एल०-एल० बी० की परीक्षाएँ पास कीं। कानपुर में आप जब सातवें दर्जे में पढ़ते थे, तभी कुछ कविताएँ 'प्रताप' में प्रकाशित हुई थीं। उस समय आपकी अवस्था केवल चौदह वर्ष की थी। १९२१ में आपकी पहली कहानी 'हिन्दी मनोरंजन' में प्रकाशित हुई; परन्तु इस समय आपका ध्यान कविता लिखने की ओर अधिक रहा और आपका यश भी कवि के रूप में ही पहले-पहल फैला। अब तक आपकी कविताओं के चार संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। १९३१ में आपने कहानियाँ लिखने की ओर फिर से ध्यान दिया और शीघ्र ही कहानी-लेखकों में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया। इनकी कहानियों के दो संग्रह 'इंस्टालमेंट' और 'दो बाँके' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। अब तक आपके तीन उपन्यास भी प्रकाशित हो चुके हैं।

दो बाँके

शायद ही कोई ऐसा अभागा हो, जिसने लखनऊ का नाम न सुना हो और युक्त प्रान्त में नहीं, बल्कि सारे हिन्दुस्तान में, और मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि सारी दुनिया में लखनऊ की शोहरत है। लखनऊ के सफेदा आम, लखनऊ के खरबूजे, लखनऊ की रेवड़ियाँ, ये सब ऐसी चीजें हैं, जिन्हें लखनऊ से लौटते समय लोग सौगात की तौर पर साथ ले जाया करते हैं; लेकिन कुछ ऐसी चीजें हैं, जो साथ नहीं ले जायी जा सकतीं। और उनमें लखनऊ की जिन्दादिली और लखनऊ की नफासत विशेष रूप से आती है।

ये तो वे चीजें हैं, जिन्हें देसी और परदेसी सभी जानते या जान सकते हैं; पर कुछ ऐसी चीजें है भी, जिन्हें कुछ लखनऊ वाले तक नहीं जानते और अगर परदेसियों को इनका पता लग जाय, तो उनके भाग खुल गये। इन्हीं विशेष चीजों में आते हैं लखनऊ के 'बाँके'।

'बाँके' शब्द हिन्दी का है या उर्दू का, यह विवादग्रस्त विषय हो सकता है, और हिन्दी वालों का कहना है—इन हिन्दी वालों में मैं भी हूँ—कि यह शब्द संस्कृत के 'बंकिम' शब्द से निकला है; पर यह मानना पड़ेगा कि जहाँ 'बंकिम' शब्द में कुछ गम्भीरता है, कभी-कभी कुछ तीखापन झलकने लगता है, वहाँ 'बाँके' शब्द में अजीब बाँकापन है, अगर जवान बाँका-तिरछा न हुआ, तो आप निश्चय समझ लें कि उसकी जवानी की कोई सार्थकता नहीं; अगर चितवन बाँकी नहीं, तो आँख का फोड़ लेना अच्छा है। बाँकी अदा और बाँकी-झाँकी के बिना जिन्दगी सूनी हो जाय। मेरे ख्याल से अगर दुनिया से 'बाँका' शब्द उठ जाय, तो कुछ दिल-चले लोग खुदकुशी करने पर अमादा हो जायँगे; और इसीलिए मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि लखनऊ बाँका शहर है और इस बाँके शहर में कुछ बाँके भी रहते हैं, जिनमें गजब का बाँकापन है। यहाँ पर आप लोग शायद झल्लाकर यह पूछेंगे—म्याँ ये बाँके क्या बला है, कहते क्यों नहीं, और मैं उत्तर दूँगा कि, आप में सब्र नहीं है, अगर इन बाँकों की एक बाँकी भूमिका नहीं हुई, तो फिर कहानी किस प्रकार बाँकी हो सकती है।

हाँ, तो लखनऊ नगर में रईस हैं, रंडियाँ हैं, और इन दोनों के साथ शोहदे भी हैं, वकौल लखनऊ वालों के ये शोहदे ऐसे-वैसे नहीं हैं : ये लखनऊ की नाक हैं, लखनऊ की सारी बहादुरी के ये ठेकेदार हैं और जान ले लेने तथा जान दे देने पर आमादा रहते हैं। अगर लखनऊ से ये शोहदे हटा लिये जायँ, तो लोगों का यह कहना—अजी लखनऊ तो जनानों का शहर है, सोलह आने सच्चा उतर जाय।

जनाब, इन्हीं शोहदों के सरगनों को लखनऊ वाले 'बाँके' कहते हैं। शाम के वक्त तहमत पहने हुए और कसरती बदन पर जालीदार बनियाइन पहन कर उसके ऊपर बूटेदार चिकन का कुरता डाटे हुए जब ये निकलते हैं, तो लोग-बाग बड़ी हसरत की निगाहों से इन्हें देखते हैं। उस-वक्त इनके पट्टेदार बालों में करीब आध पाव चमेली का तेल पड़ा रहता है; कान में इत्र की अनगिनती फुरहरियाँ खुँसी रहती हे और एक बेले का गजरा गले में तथा एक हाथ की कलाई पर रहता है। फिर ये अकेले भी नहीं निकलते, इनके साथ इनके शागिर्द शोहदों का जुलूस रहता है—एक-से-एक बढ़कर बोलियाँ बोलते हुए, फब्तियाँ कसते हुए और शेखियाँ हाँकते हुए। उन्हें देखने के लिए एक हूजूम उमड़ पड़ता है।

तो उस दिन मुझे अमीनाबाद से नख्खास जाना था। पास में पैसे कम थे; इसलिए जब एक नवाब साहब ने आवाज दी 'नख्खास' तो मैं उचक कर उनके इक्के पर बैठ गया। यह बतला देना ठीक होगा कि लखनऊ के इक्के वालों में [illegible] यह उनकी बदकिस्मती है तथा सरकार की ज्यादती है कि उनका वसीका बन्द या कम कर दिया गया और उन्हें इक्का हाँकना पड़ रहा है।

इक्का नक्खास की तरफ चला और मैंने मियाँ इक्केवाले से कहा—कहिए नवाब साहब, खाने-पीने भर को तो पैदा कर लेते हैं?

इस सवाल का पूछा जाना था कि नवाब साहब के उद्‌गारों के बाँध का टूट पड़ना था। बड़े करुण स्वर में बोले—क्या बतलाऊँ हूजूर, अपनी क्या हालत है, कह नहीं सकता। खुदा जो कुछ दिखाएगा, देखूँगा। एक दिन था, जब हम लोगों के बुजुर्ग हूकुमत करते थे, ऐशो-आराम से जिन्दगी बिताते थे, लेकिन आज भूखों मरने की नौबत आ गयी है। ओह हूजूर, अब इस पेशे में कुछ भी नहीं रह गया। पहले तो ताँगे चले, जी को समझाया-बुझाया 'म्याँ' अपनी-अपनी किस्मत?

मैं भी ताँगा ले लूँगा, यह तो वक्त की बात है; मुझे भी फायदा होगा. लेकिन क्या बतलाऊँ हुजूर, हालत दिनों-दिन बिगड़ती ही गयी। अब देखिए मोटरें-पर-मोटरें चल रही हैं। भला बतलाइए हुजूर, जो लुत्फ इक्के की सवारी में है, वह भला कहीं ताँगे या मोटर में मिलने का। ताँगे में पलथी मार कर बैठ नहीं सकते। जाते उत्तर की तरफ हैं, मुँह दक्खिन की तरफ रहता है। अजी, साहब, हिन्दुओं में मुरदा उलटे सिर ले जाया जाता है, लेकिन ताँगे में तो जिन्दा ही उलटी तरफ लोग चलते हैं। और जरा गौर कीजिए, ये मोटरें शैतान की तरह चलती हैं। जहाँ जाती हैं, वहाँ बला की धूल उड़ाती हैं, इंसान अन्धा हो जाय। मैं तो कहता हूँ कि बिना जानवर के आप-ही-आप चलनेवाली सवारी से तो दूर ही रहना चाहिए। उसमें शैतान का फेर है।

इक्के वाले नवाब और न जाने क्या क्या कहते, अगर वह 'या अली' के नारे से चौंक न उठते।

सामने क्या देखते हैं कि एक आलम उमड़ा पड़ रहा है। इक्का रकाबगंज के पुल के पास पहुँच कर रुक गया।

एक अजीब समा था। रकाबगंज के पुल के दोनों तरफ करीब पन्द्रह हजार की भीड़ थी, लेकिन पुल पर एक आदमी नहीं। पुल के एक किनारे करीब पच्चीस शोहदे लाठी लिए हुए खड़े थे और दूसरी ओर भी उतने ही; लेकिन एक खास बात यह थी कि सड़क के बीचोंबीच पुल के एक सिरे पर एक चारपाई रक्खी थी और दूसरी ओर दूसरी। बीच-बीच में रुक-रुक कर दोनों ओर से 'या अली' के नारे लगते थे।

मैंने इक्के वाले से पूछा,—क्यों म्याँ, क्या मामला है?

इक्केवाले ने एक तमाशबीन से पूछ कर कहा,—हुजूर, आज दो बाँकों में लड़ाई होने वाली है, उसी लड़ाई को देखने के लिए यह भीड़ इकट्ठा है।

मैंने फिर पूछा—यह क्यों?

इक्केवाले ने जवाब दिया, —हुजूर, पुल के इस पार के शोहदों का सरगना एक बाँका है और उस पार के शोहदों का सरगना दूसरा बाँका। कल पुल के इस पार के एक शोहदे से पुल के उस पार के दूसरे शोहदे का कुछ झगड़ा हो गया, और उस झगड़े में कुछ मार-पीट हो गयी; लेकिन बाद में दोनों बाँकों में इस फिसाद पर कहा-सुनी हुई और उस कहा-सुनी में ही मैदान बद दिया गया।

चुप होकर मैं उधर देखने लगा। एकाएक मैंने पूछा,—लेकिन ये चारपाइयाँ क्यों आयी हैं ?

'अरे हुजूर, इन बाँकों की लड़ाई कोई ऐसी-वैसी थोड़ी ही होगी। इसमें खून बहेगा, और लड़ाई तब तक खत्म न होगी, जब तक एक बाँका खत्म न हो जाय। आज तो एक-आध लाश गिरेगी। ये चारपाइयाँ उन बाँकों की लाशें उठाने के लिए आयी हैं। दोनों बाँके बीबी-बच्चों से रुखसत लेकर और कर्बला के लिए तैयार होकर आवेंगे।'

इसी समय दोनों ओर से 'या अली' की एक बहुत बुलन्द आवाज उठी। मैंने देखा कि पुल के दोनों ओर हाथ में लाठी लिए हुए दोनों बाँके आ गये। तमाशबीनों में एक सकता-सा फैल गया, सब लोग चुप हो गये।

पुल के इस पारवाले बाँके ने सड़क के दूसरे पार वाले बाँके से कहा,—उस्ताद ! और दूसरे पारवाले बाँके ने कड़क कर उत्तर दिया,—उस्ताद !

पुल के इस पार वाले बाँके ने कहा,—उस्ताद आज खून हो जायगा, खून !

पुल के उस पार वाले बाँके ने कहा,—उस्ताद, आज लाशें गिर जायँगी, लाशें।

पुल के इस पार वाले बाँके ने कहा,—उस्ताद, आज कहर हो जायगा, कहर!

पुल के उस पार वाले बाँके ने कहा,—उस्ताद, आज कयामत बरपा हो जायगी, कयामत !

चारों ओर एक गहरा सन्नाटा फैला था। लोगों के दिल धड़क रहे थे, भीड़ बढ़ती ही जा रही थी।

पुल के इस पार वाले बाँके ने लाठी का एक हाथ घुमा कर एक कदम बढ़ाते हुए कहा,—तो फिर उस्ताद—होशियार !

पुल के उस पार वाले बाँके के शागिर्दों ने गगनभेदी स्वर में नारा लगाया,—या अली !

पुल के उस पार वाले बाँके ने भी लाठी का एक हाथ घुमा कर एक कदम बढ़ाते हुए कहा,—तो फिर उस्ताद सँभलना !

पुल के इस पार वाले बाँके के शागिर्दों ने गगनभेदी स्वर में नारा लगाया,—या अली !

दोनों तरफ से दोनों बाँके कदम-ब-कदम लाठी के हाथ दिखलाते तथा एक दूसरे को ललकारते हुए आगे बढ़ रहे थे, दोनों तरफ के बाँके के शागिर्द हर

कदम पर 'या अली' के नारे लगा रहे थे और दोनों तरफ के तमाशबीनों के हृदय उत्सुकता, कौतूहल तथा इन बाँकों की वीरता के प्रदर्शन के कारण धड़क रहे थे।

पुल के बीचोंबीच, एक-दूसरे से दो कदम की दूरी पर दोनों बाँके रुके। दोनों ने एक-दूसरे को थोड़ी देर तक गौर से देखा। फिर दोनों बाँकों की लाठियाँ उठीं और दहिने हाथ से बाँयें हाथ में चली गयीं।

इस पार वाले बाँके ने कहा—फिर उस्ताद !

उस पार वाले बाँके ने कहा—फिर उस्ताद !

इस पार वाले ने अपना हाथ बढ़ाया और उस पार वाले बाँके ने अपना हाथ बढ़ाया और दोनों बाँकों के पंजे गुँथ गये।

दोनों बाँकों के शागिर्दों ने नारा लगाया,—या अली ! पंजा टस-से-मस नहीं हो रहा है। दस मिनट तमाशबीन सकते की हालत में खड़े रहे, इतने में इस पार वाले बाँके ने कहा—उस्ताद, गजब के कस हैं !

उस पार वाले बाँके ने कहा—उस्ताद, बला का जोर है !

इस पार वाले बाँके ने कहा—उस्ताद, अभी तक मैंने समझा था कि मेरी जोड़ का लखनऊ में कोई दूसरा नहीं है।

उस पार वाले बाँके ने कहा—उस्ताद, आज मुझे अपनी जोड़ का आदमी मिला।

इस पार वाले बाँके ने कहा—उस्ताद, तबीयत नहीं होती कि तुम्हारे जैसे बहादुर आदमी का खून करूँ।

उस पार वाले बाँके ने कहा—उस्ताद, तबीयत नहीं होती कि तुम्हारे जैसे शेरदिल आदमी की लाश गिराऊँ।

थोड़ी देर के लिए फिर दोनों मौन हो गये, पंजा गुँथा हुआ, टस-से-मस नहीं हो रहा है।

इस पार वाले बाँके ने कहा—उस्ताद, झगड़ा किस बात का है ?

उस पार वाले बाँके ने कहा—उस्ताद, यही तो मैं भी समझ नहीं पा रहा हूँ।

इस पार वाले बाँके ने कहा—उस्ताद, पुल के इस तरफ वाले हिस्से का मालिक मैं !

घीसा

वर्तमान की कौन-सी अज्ञात प्रेरणा हमारे अतीत की किसी भूली हुई कथा को सम्पूर्ण मार्मिकता के साथ दोहरा जाती है, यह जान लेना सहज होता तो मैं भी आज गाँव के उस मलिन सहमे नन्हें-से विद्यार्थी की सहसा याद आ जाने का कारण बता सकती, जो एक छोटी लहर के समान ही मेरे जीवन-तट को अपनी सारी आर्द्रता से छू कर अनन्त जल-राशि में विलीन हो गया है।

गंगा-पार झूँसी के खंडहर और उसके आस-पास के गाँवों के प्रति मेरा अकारण आकर्षण रहा है। उसे देखकर ही सम्भवतः लोग जन्म-जन्मान्तर के सम्बन्ध का व्यंग्य करने लगे है। है भी तो आश्चर्य की बात। जिस अवकाश के समय को लोग इष्ट-मित्रों से मिलने, उत्सव में सम्मिलित होने तथा अन्य आमोद-प्रमोद के लिए सुरक्षित रखते हैं, उसी को मैं इस खंडहर और उसके क्षत-विक्षत चरणों पर पछाड़ें खाती हुई भागीरथी के तट पर काट ही नहीं, सुख से काट देती हूँ।

दूर-पास बसे हुए, गुड़ियों के बड़े-बड़े घरौंदों के समान लगने वाले कुछ लिपे-पुते, कुछ जीर्ण-शीर्ण घरों से स्त्रियों का जो झुण्ड पीतल-ताँबे के चमचमाते, मिट्टी के नये लाल और पुराने भदरंग घड़े लेकर गंगाजल भरने आता है, उसे भी मैं पहचान गयी हूँ। उनमें कोई बूटेदार लाल, कोई निरी काली, कोई कुछ सफेद और कोई मैल और सूत में अद्वैत स्थापित करने वाली, कोई कुछ नयी और कोई छेदों से चलनी बनी हुई धोती पहने रहती हैं। किसी की मोम लगी पाटियों के बीच में एक अंगुल चौड़ी सिंदूर-रेखा अस्त होते हुए सूर्य की किरणों में चमकती रहती है और किसी की कड़वे तेल से भी अपरिचित रूखी जटा बनी हुई छोटी-छोटी लटें मुख को घेर कर उसकी उदासी को और अधिक केन्द्रित कर देती हैं। किसी की साँवली गोल कलाई पर शहर की कच्ची नगदार चूड़ियों के नग रह-रह कर हीरे-से चमक जाते हैं और किसी की दुर्बल कलाई पर लाख की पीली मैली चूड़ियाँ काले पत्थर पर मटमैले चन्दन की मोटी लकीरें जान पड़ती हैं। कोई अपने गिलट के कड़े-युक्त हाथ घड़े की ओट में छिपाने का प्रयत्न-सा

करती रहती है और कोई चाँदी के पछेली-ककना की झनकार के ताल के साथ ही बात करती है। किसी के कान में लाख की पैसे वाली तरकी धोती से कभी-कभी झाँक भर लेती हैं और किसी को डारें लम्बी जंजीर से गला और गाल एक करती रहती हैं। किसी के गुदना गुदे गेहुँए पैरों में चाँदी के कड़े सुडौलपन को निखरे-से लगते हैं और किसी की फैली उँगलियों और सफेद एड़ियों के साथ मिली हुई स्याही राँगे और काँसे के कड़ों को लोहे की साफ की हुई बेड़ियाँ बना देती है।

वे सब पहले हाथ-मुँह धोती हैं, फिर पानी में कुछ घुस कर घड़ा भर लेती हैं।—तब घड़ा किनारे रख, सिर पर इँडुरी ठीक करती हुई मेरी ओर देख कर कभी मलिन, कभी उजली, कभी दुःख की व्यथा-भरी, कभी सुख की कथा-भरी मुस्कान से मुस्करा देती है। अपने-मेरे बीच का अन्तर उन्हें अज्ञात है, तभी कदाचित् वे इस मुस्कान के सेतु से उसका वार-पार जोड़ना नहीं भूलतीं।

ग्वालों के बालक अपनी चरती हुई गाय-भैंसों में से किसी को उस ओर बहकते देखकर ही लकुटी लेकर दौड़ पड़ते हैं, गड़ेरियों के बच्चे अपने झुंड की एक भी बकरी या भेड़ को उस ओर बढ़ते देखकर कान पकड़ कर खींच ले जाते हैं और व्यर्थ दिन-भर गिल्ली-डंडा खेलने वाले निठल्ले लड़के भी बीच-बीच में नजर बचाकर मेरा रुख देखना नहीं भूलते।

उस पार शहर में दूध बेचने जाते या लौटते हुए ग्वाले किले में काम करने जाते या घर आते हुए मजदूर, नाव बाँधते या खोलते हुए मल्लाह कभी-कभी 'चुनरीत रँगाउब लाल मजीठी हो' गीत गाते मुझ पर दृष्टि पड़ते ही अकचका कर चुप हो जाते हैं। कुछ विशेष सभ्य होने का गर्व करने वालों से मुझे एक सलज्ज नमस्कार भी प्राप्त हो जाता है।

कह नहीं सकती, कब और कैसे मुझे उन बालकों को कुछ सिखाने का ध्यान आया, पर जब बिना कार्यकारिणी के निर्वाचन के, बिना पदाधिकारियों के चुनाव के, बिना भवन के, बिना चंदे की अपील के और सारांश यह कि बिना किसी चिर-परिचित समारोह के मेरे विद्यार्थी पीपल के पेड़ की घनी छाया में मेरे चारों ओर एकत्र हो गये, तब मैं बड़ी कठिनाई से गुरु के उपयुक्त गम्भीरता का भार वहन कर सकी।

और वे जिज्ञासु कैसे थे जो कैसे बताऊँ! कुछ कानों में बालियाँ और हाथ में कड़े पहने धुले कुरते और ऊँची मैली धोती में नगर और ग्राम का सम्मिश्रण

जान पड़ते थे, कुछ अपने बड़े भाई का पाँव तक लम्बा कुरता पहने हुए खेत में डराने के लिए खड़े किये हुए नकली आदमी का स्मरण दिलाते थे, कुछ उभरी पसलियों, बड़े पेट और टेढ़ी दुर्बल टाँगों के कारण अनुमान से ही मनुष्य-संतान की परिभाषा में आ सकते थे और कुछ अपने दुर्बल, रूखे और मलिन मुखों की करुण सौम्यता और निष्प्रभ पीली आँखों में संसार-भर की अपेक्षा बटोर बैठे थे; पर घीसा उनमें अकेला ही रहा और आज भी मेरी स्मृति में अकेला ही आता है।

वह गोधूली मुझे अब तक नहीं भूली। सन्ध्या के लाल सुनहली आभा वाले उड़ते हुए दुकूल पर रात्रि ने मानो छिप कर अंजन की मूठ चला दी थी। मेरा नाव वाला कुछ चिन्तित-सा लहरों की ओर देख रहा था; बूढ़ी भक्तिन मेरी किताबें, कागज-कलम आदि सँभाल कर नाव पर रख कर बढ़ते अन्धकार पर खिझला कर बुदबुदा रही थी, या मुझे कुछ सनकी बनाने वाले विधाता पर, यह समझना कठिन था। बेचारी मेरे साथ रहते-रहते दस लम्बे वर्ष काट आयी है।—नौकरानी से अपने आपको एक प्रकार की अभिभाविका मानने लगी है; परन्तु मेरी सनक का दुष्परिणाम सहने के अतिरिक्त उसे क्या मिला है! सहसा ममता से मेरा मन भर आया; परन्तु नाव की ओर बढ़ते हुए मेरे पैर, फैलते हुए अन्धकार में से एक स्त्री-मूर्त्ति को अपनी ओर आते देख ठिठक रहे। साँवले कुछ लम्बे-से मुखड़े में पतले स्याह ओठ कुछ अधिक स्पष्ट हो रहे थे। आँखें छोटी; पर व्यथा से आर्द्र थीं। मलिन बिना किनारी की गाढ़े की धोती ने उसके सलूका रहित अंगों को भली भाँति ढँक लिया था; परन्तु तब भी शरीर की सुडौलता का आभास मिल रहा था। कन्धे पर हाथ रख कर वह जिस दुर्बल अर्धनग्न बालक को अपने पैरों से चिपकाये हुए थी, उसे मैंने सन्ध्या के झुटपुटे में ठीक से नहीं देखा।

स्त्री ने रुक-रुक कर कुछ शब्दों और कुछ संकेतों में जो कहा, उससे मैं केवल यह समझ सकी कि उसके पति नहीं हैं, दूसरों के घर लीपने-पोतने का काम करने वह चली जाती है और उसका यह अकेला लड़का ऐसे ही घूमता रहता है। मैं इसे भी और बच्चों के साथ बैठने दिया करूँ, तो यह कुछ तो सीख सके। दूसरे इतवार को मैंने उसे सबसे पीछे अकेले एक ओर दुबक कर बैठे हुए देखा। पक्का रंग पर गठन में और अधिक सुडौल मलिन मुख, जिसमें दो पीली; पर सचेत आँखें जड़ी-सी जान पड़ती थीं। कस कर बन्द किये हुए पतले होठों की दृढ़ता और सिर पर खड़े हुए छोटे-छोटे रूखे बालों की उग्रता उसके मुख की संकोच-भरी कोमलता

से विद्रोह कर रही थीं। उभरी हुई हड्डियों वाली गर्दन को सँभालते हुए झुके कन्धों से, रक्तहीन मटमैली हथेलियों और टेढ़े-मेढ़े कटे हुए नाखूनों-युक्त हाथों वाली पतली बाहें ऐसी झूलती थीं, जैसे ड्रामा में विष्णु बनने वाले की दो नकली भुजाएँ। निरन्तर दौड़ते रहने के कारण उस लचीले शरीर में दुबले पैर ही विशेष पुष्ट जान पड़ते थे। ——बस ऐसा ही था वह घीसा। न नाम में कवित्व की गुन्जाइश न शरीर में॥

पर उसकी सचेत आँखों में न जाने कौन-सी जिज्ञासा भरी थी। वे निरन्तर घड़ी की तरह खुली मेरे मुख पर टिकी ही रहती थी। मानो मेरी सारी विद्या-बुद्धि को सीख लेना ही उनका ध्येय था।

लड़के उससे कुछ खिंचे-खिंचे-से रहते थे। इसलिए नहीं कि वह कोरी था, वरन् इसलिए कि किसी की माँ, किसी की नानी, किसी की बुआ आदि ने घीसा से दूर रहने की नितान्त आवश्यकता उन्हें कान पकड़-पकड़ कर समझा दी थी।—— यह भी उन्हीं ने बताया और बताया घीसा के सब से अधिक कुरूप नाम का रहस्य। बाप तो जन्म से पहले ही नहीं रहा। घर में कोई देखने-भालने वाला न होने के कारण माँ उसे बँदरिया के बच्चे के समान चिपकाये फिरती थी। उसे एक ओर लिटा कर जब वह मजदूरी के काम में लग जाती थी, तब पेट के बल घसिट-घसिट कर बालक संसार के प्रथम अनुभव के साथ-साथ इस नाम की योग्यता भी प्राप्त करता जाता था।

फिर धीरे-धीरे अन्य स्त्रियाँ भी मुझे आते-जाते रोक कर अनेक प्रकार की भाव-भंगिमा के साथ एक विचित्र सांकेतिक भाषा में घीसा की जन्मजात अयोग्यता का परिचय देने लगीं। क्रमशः मैंने उसके नाम के अतिरिक्त और कुछ भी न जाना।

उसका बाप था तो कोरी; पर बड़ा ही अभिमानी और भला आदमी बनने का इच्छुक था। डलिया आदि बुनने का काम छोड़कर वह थोड़ी बढ़ईगीरी सीख आया और केवल इतना ही नहीं, एक दिन चुपचाप दूसरे गाँव से युवती वधू लाकर उसने अपने गाँव की सब सजातीय सुन्दरी बालिकाओं को उपेक्षित और उनके योग्य माता-पिता को निराश कर डाला। मनुष्य इतना अन्याय सह सकता है, परन्तु ऐसे अवसर पर भगवान् की असहिष्णुता प्रसिद्ध ही है। इसी से जब गाँव के चौखट-किवाड़ बनाकर और ठाकुरों के घरों में सफेदी करके उसने कुछ ठाट-बाट से रहना आरम्भ किया, तब अचानक हैजे के बहाने वह वहाँ बुला लिया गया,

जहाँ न जाने का बहाना न उसकी बुद्धि सोच सकी न अभिमान; पर स्त्री भी कम गर्वीली न निकली, गाँव के अनेक विधुर और अविवाहित कोरियों ने केवल उदारता-वश ही उसकी जीवन-नैया पार लगाने का उत्तरदायित्व लेना चाहा; परन्तु उसने केवल कोरा उत्तर ही नहीं दिया, प्रत्युत उसे नमक-मिर्च लगाकर तीता भी कर दिया। कहा—'हम सिंघ कै मेहरारू होइके का सियारन के जाब!' और बिना स्वर-ताल के आँसू गिरा कर, बाल खोल कर, चूड़ियाँ फोड़कर और बिना किनारे की धोती पहन कर जब उसने बड़े घर की विधवा का स्वाँग भरना आरम्भ किया, तब तो सारा समाज क्षोभ के समुद्र में डूबने-उतराने लगा। उस पर घीसा बाप के मरने के बाद हुआ है। हुआ तो वास्तव में छः महीने बाद, परन्तु उस समय के सम्बन्ध में क्या कहा जाय, जिसका कभी एक क्षण वर्ष-सा बीतता है और कभी एक वर्ष क्षण हो जाता है। इसी से वह छह माह का समय रबर की तरह खिंच कर एक साल की अवधि तक पहुँच गया, तो इसमें गाँव वालों का क्या दोष!—

यह कथा अनेक क्षेपकोमय विस्तार के साथ सुनायी तो गयी थी मेरा मन फेरने के लिए और मन फिरा भी, परन्तु किसी सनातन नियम से कथावाचकों की ओर न फिर कथा के नायकों की ओर फिर गया और इस प्रकार घीसा मेरे और अधिक निकट आ गया। वह अपना जीवन-सम्बन्धी अपवाद कदाचित् पूरा नहीं समझ पाया था; परन्तु अधूरे का भी प्रभाव उस पर न था क्योंकि वह सब को अपनी छाया से इस प्रकार बचाता रहता था, मानो उसे कोई छूत की बीमारी हो।

पढ़ने, उसे सबसे पहले समझने, उसे व्यवहार के समय स्मरण रखने, पुस्तक में एक भी धब्बा न लगाने, स्लेट को चमचमाती रखने और अपने छोटे-से-छोटे काम का उत्तरदायित्व बड़ी गम्भीरता से निभाने में उसके समान कोई चतुर न था। इसी से कभी-कभी मन चाहता कि उसकी माँ से उसे माँग ले जाऊँ और अपने पास रख कर उसके विकास की उचित व्यवस्था कर दूँ—परन्तु उस उपेक्षिता; पर मानिनी विधवा का वही एक सहारा था। वह अपने पति का स्थान छोड़ने पर प्रस्तुत न होगी, यह भी मेरा मन जानता था और उस बालक के बिना उसका जीवन कितना दुर्वह हो सकता है, यह भी मुझसे छिपा न था। फिर नौ साल के कर्तव्य-परायण घीसा की गुरु-भक्ति देख कर उसकी मातृ-भक्ति के सम्बन्ध में कुछ सन्देह करने का स्थान ही नहीं रह जाता था और इस तरह घीसा वहीं और

उन्हीं कठोर परिस्थितियों में रहा, जहाँ क्रूरतम नियति ने केवल अपने मनोविनोद के लिए ही उसे रख दिया था।

शनिश्चर के दिन ही वह अपने छोटे दुर्बल हाथों से पीपल की छाया को गोबर-मिट्टी से पीला चिकनापन दे आता था। फिर इतवार को माँ के मजदूरी पर जाते ही एक मैले फटे कपड़े में बँधी मोटी रोटी और कुछ नमक या थोड़ा चबेना और एक डली गुड़ बगल में दबाकर, पीपल की छाया को एक बार फिर झाड़ने-बुहारने के पश्चात् वह गंगा के तट पर आ बैठता और अपनी पीली सतेज आँखों पर क्षीण साँवले हाथ की छाया कर दूर-दूर तक दृष्टि को दौड़ाता रहता। जैसे ही उसे मेरी नीली सफेद नाव की झलक दिखाई पड़ती, वैसे ही वह अपनी पतली टाँगों पर तीर के समान उड़ता और बिना नाम लिये ही साथियों को सुनाने के लिए 'गुरु साहब, गुरु साहब' कहता हुआ फिर पेड़ के नीचे पहुँच जाता, जहाँ न जाने कितनी बार दुहराये-तिहराये हुए कार्यक्रम की एक अन्तिम आवृत्ति आवश्यक हो उठती। पेड़ की नीची डाल पर रखी हुई मेरी शीतलपाटी उतार कर बारम्बार झाड़-पोंछ कर बिछायी जाती, कभी काम न आने वाली सूखी स्याही से काली कच्चे काँच की दावात अपने टूटे निब और उखड़े हुए रंगवाले भूरे कलम के साथ पेड़ के कोटर से निकाल कर यथास्थान रख दी जाती और इस विचित्र पाठशाला का विचित्र मंत्री और निराला विद्यार्थी कुछ आगे बढ़ कर मेरे सप्रणाम स्वागत के लिए प्रस्तुत हो जाता।

महीने में चार ही दिन मैं वहाँ पहुँच सकती थी और कभी-कभी काम की अधिकता से एक-आध छुट्टी का दिन और भी निकल जाता था; पर उस थोड़े-से समय और इने-गिने दिनों में भी मुझे उस बालक के हृदय का जैसा परिचय मिला, वह चित्रों के एल्बम के समान निरन्तर नवीन-सा लगता है।

मुझे आज भी वह दिन नहीं भूलता, जब मैंने विना कपड़ों का प्रबन्ध किये हुए ही उन बेचारों को सफाई का महत्त्व समझाते-समझाते थका डालने की मूर्खता की। दूसरे इतवार को सब जैसे-के-तैसे ही सामने थे—केवल कुछ गंगाजी में मुँह इस तरह धो आये थे कि मैल अनेक रेखाओं में विभक्त हो गया था, कुछ के हाथ-पाँव ऐसे घिसे थे कि शेष मलिन शरीर के साथ में अलग जोड़े हुए-से लगते थे और कुछ 'न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी' की कहावत चरितार्थ करने के लिए कीट से मैले फटे कुरते घर ही छोड़ कर ऐसे अस्थिपंजरमय रूप में आ उपस्थित हुए

थे, जिसमें उनके प्राण, 'रहने का आश्चर्य है गये अचम्भा कौन' की घोषणा करते जान पड़ते थे; पर घीसा गायब था; पूछने पर लड़के कानाफूसी करने या एक साथ सभी उसकी अनुपस्थिति का कारण सुनने को आतुर होने लगे। एक-एक शब्द जोड़-तोड़ कर समझना पड़ा कि घीसा माँ से कपड़ा धोने के साबुन के लिए तभी से कह रहा था—माँ को मजदूरी के पैसे मिले नहीं और दूकानदार ने नाज लेकर साबुन दिया नहीं। कल रात को माँ को पैसे मिले और आज सबेरे वह सब काम छोड़ कर पहले साबुन लेने गयी। अभी लौटी है, अतः घीसा कपड़े धो रहा है, क्योंकि गुरु साहब ने कहा था कि नहा-धोकर साफ कपड़े पहन कर आना। और अभागे के पास कपड़े ही क्या थे! किसी दयावती का दिया हुआ एक पुराना कुरता, जिसकी एक आस्तीन आधी थी और एक अँगौछा-जैसा फटा टुकड़ा। जब घीसा नहा कर गीला अँगौछा ही लपेटे और आधा भीगा कुरता पहने अपराधी के समान मेरे सामने आ खड़ा हुआ, तब आँखें ही नहीं, मेरा रोम-रोम गीला हो गया। उस समय समझ में आया कि द्रोणाचार्य ने अपने भील शिष्य से अँगूठा कैसे कटवा लिया था।

एक दिन न जाने क्या सोच कर मैं उन विद्यार्थियों के लिए ५-६ सेर जलेबी ले गयी; पर कुछ तौलने वाले की सफाई से, कुछ तुलवाने वाले की समझदारी से और कुछ वहाँ की छीना-झपटी के कारण प्रत्येक को पाँच से अधिक न मिल सकीं। एक कहता था—मुझे एक कम मिली, दूसरे ने बताया मेरी अमुक ने छीन ली, तीसरे को घर में सोते हुए छोटे भाई के लिए चाहिए, चौथे को किसी की और याद आ गयी; पर इस कोलाहल में अपने हिस्से की जलेबियाँ लेकर घीसा कहाँ खिसक गया, यह कोई न जान सका। एक नटखट अपने साथी से कह रहा था—'सार एक ठो पिलवा पाले है, ओही को देय गवा होई'—पर मेरी दृष्टि से संकुचित होकर चुप रह गया। और तब तक घीसा लौटा ही। उसका सब हिसाब ठीक था—जलखई वाले छन्ने में तीन जलेबियाँ लपेट कर वह माई के लिए छप्पर में खोंस आया है, एक उसने अपने पाले हुए, बिना माँ के, कुत्ते के पिल्ले को खिला दी और दो स्वयं खा लीं। और चाहिए, पूछने पर उसकी संकोच-भरी आँखें झुक गयीं—ओंठ कुछ हिले। पता चला कि पिल्ले को उससे कम मिली है। दें तो गुरु साहब पिल्ले को ही एक और दे दें।

और होली के पहले की एक घटना तो मेरी स्मृति में ऐसे गहरे रंगों से अंकित

है, जिसका धुल सकना सहज नहीं। उन दिनों हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य धीरे-धीरे बढ़ रहा था और किसी दिन उसके चरम सीमा तक पहुँच जाने की पूर्ण सम्भावना थी। घीसा दो सप्ताह से ज्वर में पड़ा था—दवा मैं भेजवा देती थी, परन्तु देख-भाल का कोई ठीक प्रबन्ध न हो पाता था। दो-चार दिन उसकी माँ स्वयं बैठी रही, फिर एक अन्धी बुढ़िया को बैठा कर काम पर जाने लगी।

इतवार की साँझ को मैं यथाक्रम बच्चों को विदा दे, घीसा को देखने चली; परन्तु पीपल से पचास पग पहुँचते-न-पहुँचते उसी को डगमगाते पैरों पर गिरते-पड़ते अपनी ओर आते देख मेरा मन उद्विग्न हो उठा। वह तो इधर पन्द्रह दिन से उठा ही नहीं था, अतः मुझे उसके सन्निपात-ग्रस्त होने का ही सन्देह हुआ। उसके सूखे शरीर में तरल विद्युत-सी दौड़ रही थी, आँखें और भी सतेज और मुख ऐसा था, जैसे हल्की आँच में धीरे-धीरे लाल होने वाला लोहे का टुकड़ा।

पर उसके बात-ग्रस्त होने से भी अधिक चिन्ताजनक उसकी समझदारी की कहानी निकली। वह प्यास से जाग गया था; पर पानी पास मिला नहीं और अन्धी मनियाँ की आजी से माँगना ठीक न समझ कर चुपचाप कष्ट सहने लगा। इतने में मुल्लू के कक्का ने पार से लौट कर दरवाजे से ही अन्धी को बताया कि शहर में दंगा हो रहा है और तब उसे गुरु साहब का ध्यान आया। मुल्लू के कक्का के हटते ही वह ऐसे हौले-हौले उठा कि बुढ़िया को पता ही न चला और कभी दीवार का, कभी पेड़ का सहारा लेता-लेता वह इस ओर भागा। अब वह गुरु साहब के गोड़ धर कर यहीं पड़ा रहेगा; पर पार किसी तरह भी न जाने देगा।

तब मेरी समस्या और भी जटिल हो गयी। पार तो मुझे पहुँचना था ही; पर साथ ही बीमार घीसा को ऐसे समझा कर, जिससे उसकी स्थिति और गम्भीर न हो जाय। पर, सदा के संकोची नम्र और आज्ञाकारी घीसा का इस दृढ़ और हठी बालक में पता ही न चलता था। उसने पारसाल ऐसे ही अवसर पर हताहत दो मल्लाह देखे थे और कदाचित इस समय उसका रोग से विकृत मस्तिष्क उन चित्रों में और गहरा रंग भर कर मेरी उलझन को और उलझा रहा था; पर उसे समझाने का प्रयत्न करते-करते अचानक ही मैंने एक ऐसा तार छू दिया, जिसका स्वर मेरे लिए भी नया था। यह सुनते ही कि मेरे पास रेल में बैठ कर दूर-दूर से आये हुए बहुत-से विद्यार्थी हैं, जो अपनी माँ के पास साल-भर में एक बार ही पहुँच पाते हैं और जो मेरे न जाने से अकेले घबरा जायँगे, घीसा का सारा हठ, सारा विरोध

ऐसे वह गया, जैसे वह कभी था ही नहीं—और तब घीसा के समान तर्क की क्षमता किसमें थी ! जो साँझ को अपनी माई के पास नहीं जा सकते, उनके पास गुरु साहब को जाना ही चाहिए। घीसा रोकेगा, तो उसके भगवानजी गुस्सा हो जायँगे, क्योंकि वे ही तो घीसा को अकेला बेकार घूमता देखकर गुरु साहब को भेज देते हैं, आदि-आदि। उसके तर्कों का स्मरण कर आज भी मन भर आता है; परन्तु उस दिन मुझे आपत्ति से बचाने के लिए अपने बुखार से जलते हुए अशक्त शरीर को घसीट लाने वाले घीसा को जब उसकी टूटी खटिया पर लिटा कर मैं लौटी, तब मेरे मन में कौतूहल की मात्रा ही अधिक थी।

इसके उपरान्त घीसा अच्छा हो गया और धूल और सूखी पत्तियों को बाँध कर उन्मत्त के समान घूमने वाली गर्मी की हवा से उसका रोज संग्राम छिड़ने लगा—झाड़ते-झाड़ते वही पाठशाला धूल-धूसरित होकर, भूरे, पीले और कुछ हरे पत्तों की चादर में छिप कर तथा कंकाल-शेष शाखाओं में उलझते, सूखे-पत्तों को पुकारते, वायु की संतप्त सरसर से मुखरित होकर उस श्रान्त बालक को चिढ़ाने लगती। तब मैंने तीसरे पहर से सन्ध्या समय तक वहाँ रहने का निश्चय किया; परन्तु पता चला, घीसा किसकिसाती आँखों को मलता और पुस्तक से बराबर धूल झाड़ता हुआ दिन भर वहीं पेड़ के नीचे बैठा रहता है, मानो वह किसी प्राचीन युग का तपोव्रती अनागारिक ब्रह्मचारी हो, जिसकी तपस्या भंग करने के लिए ही लू के झोंके आते हैं।

इस प्रकार चलते-चलते समय ने जब दाईं छूने के लिए दौड़ते हुए बालक के समान झपट कर उस दिन पर उँगली धर दी, जब मुझे उन लोगों को छोड़ जाना था, तब तो मेरा मन बहुत ही अस्थिर हो उठा। कुछ बालक उदास थे और कुछ खेलने की छुट्टी से प्रसन्न। कुछ जानना चाहते थे कि छुट्टियों के दिन चूने की टिकियाँ रखकर गिने जायँ, या कोयले की लकीरें खींचकर। कुछ के सामने बरसात में चूते हुए घर में आठ पृष्ठ की पुस्तक बचा रखने का प्रश्न था और कुछ कागजों पर अकारण ही चूहों की समस्या का समाधान चाहते थे। ऐसे महत्त्वपूर्ण कोलाहल में घीसा न जाने कैसे अपना रहना अनावश्यक समझ लेता था, अतः सदा के समान आज भी मैंने उसे न खोज पाया। जब मैं कुछ चिन्तित-सी वहाँ से चली, तब मन भारी-भारी हो रहा था, आँखों में कोहरा-सा घिर आता था। वास्तव में उन दिनों डाक्टरों को मेरे पेट में फोड़ा होने का सन्देह हो रहा था—आपरेशन की सम्भावना

थी। कब लौटूँगी, या नहीं लौटूँगी, यही सोचते-सोचते मैंने फिर कर चारों ओर से आर्द्र दृष्टि डाली, वह कुछ समय तक उन परिचित स्थानों को भेंट कर वहीं उलझ रही।

पृथ्वी के उच्छ्वास के समान उठते हुए धुँधलेपन में वे कच्चे घर आकण्ठ मग्न हो गये थे—केवल फूस के मटमैले और खपरैल के कत्थई और काले छप्पर, वर्षा में बढ़ी गंगा के मिट्टी-जैसे जल में पुरानी नावों के समान जान पड़ते थे। कछार की बालू में दूर तक फैले तरबूजे के खेत अपने सिरकी और फूस की मड़ियों, टट्टियों और रखवाली के लिए बनी पर्णकुटियों के कारण जल में बसे किसी आदिम द्वीप का स्मरण दिलाते थे। उनमें एक-दो दिये जल चुके थे, तब मैंने दूर पर एक छोटा-सा काला धब्बा आगे बढ़ता देखा। वह घीसा ही होगा। यह मैंने दूर से ही जान लिया। आज गुरु साहब को उसे विदा देनी है, यह उसका नन्हा हृदय अपनी पूरी संवेदन-शक्ति से जान रहा था, इसमें सन्देह नहीं था; परन्तु उस उपेक्षित बालक के मन में मेरे लिए कितनी सरल ममता और मेरे विछोह की कितनी गहरी व्यथा हो सकती है, यह जानना मेरे लिए शेष था।

निकट आने पर देखा कि उस धूमिल गोधूली में बादामी कागज पर काले चित्र के समान लगनेवाला नंगे बदन घीसा एक बड़ा तरबूज दोनों हाथों में सम्हाले था, जिसमें बीच के कुछ कटे भाग में से भीतर की ईषत्-लक्ष्य ललाई चारों ओर के गहरे हरेपन में कुछ खिले, कुछ बन्द गुलाबी फूल-जैसी जान पड़ती थी।

घीसा के पास न पैसा था न खेत—तब क्या वह इसे चुरा लाया है! मन का सन्देह बाहर आया ही और तब मैंने जाना कि जीवन का खरा सोना छिपाने के लिए उस शरीर को बनानेवाला ईश्वर उस बूढ़े आदमी से भिन्न नहीं, जो अपनी सोने की मोहर को कच्ची मिट्टी की दीवार में रख निश्चिन्त हो जाता है। घीसा गुरु साहब से झूठ बोलना भगवान्‌जी से झूठ बोलना समझता है। वह तरबूज कई दिन पहले देख आया था। माई के लौटने में न जाने क्यों देर हो गयी, तब उसे अकेले खेत पर जाना पड़ा। वहाँ खेतवाले का लड़का था, जिसकी उसके नये कुरते पर बहुत दिन से नजर थी। प्रायः सुना-सुना कर कहता था कि जिनकी भूख जूठी पत्तल से बुझ सकती है, [illegible] होते हैं। उसने कहा—पैसा नहीं है, तो कुरता दे जाओ। और घीसा आज तरबूज न लेता, तो कल उसका क्या करता। इससे कुरता दे आया—पर गुरु साहब को चिन्ता करने की आवश्यकता

नहीं, क्योंकि गर्मी में वह कुरता पहनता ही नहीं और जाने-आने के लिए पुराना ठीक रहेगा। तरबूज सफेद न हो इसलिए कटवाना पड़ा—मीठा है या नहीं यह देखने के लिए उँगली से कुछ निकाल भी लेना पड़ा।

गुरु साहब न लें, तो घीसा रात-भर रोयेगा—छुट्टी भर रोयेगा, ले जावें, तो वह रोज नहा-धोकर पेड़ के नीचे पढ़ा हुआ पाठ दोहराता रहेगा और छुट्टी के बाद पूरी किताब पट्टी पर लिख कर दिखा सकेगा।

और तब अपने स्नेह में प्रगल्भ उस बालक के सिर पर हाथ रखकर मैं भावातिरेक से ही निश्चल हो रही। उस तट पर किसी गुरु को किसी शिष्य से कभी ऐसी दक्षिणा मिली होगी, ऐसा मुझे विश्वास नहीं; परन्तु उस दक्षिणा के सामने संसार के अब तक के सारे आदान-प्रदान फीके हो गये।

फिर घीसा के सुख का विशेष प्रबन्ध कर मैं बाहर चली गयी और लौटते-लौटते कई महीने लग गये। इस बीच में उसका कोई समाचार न मिलना ही सम्भव था। जब फिर उस ओर जाने का मुझे अवकाश मिल सका, तब घीसा को उसके भगवान्‌जी ने सदा के लिए पढ़ने से अवकाश दे दिया था—आज वह कहानी दोहराने की मुझमें शक्ति नहीं है; पर सम्भव है आज, कल के कुछ दिन, दिनों के मास और मास के वर्ष बन जाने पर मैं दार्शनिक के समान धीर भाव से उस जीवन का उपेक्षित अन्त बता सकूँगी। अभी मेरे लिए इतना ही पर्याप्त है कि मैं अन्य मलिन मुखों में उसकी छाया ढूँढ़ती रहूँ।

राधाकृष्ण

(जन्म---१९१२ ई०)



आपका जन्म बिहार के राँची जिले में हुआ है। प्रारम्भिक शिक्षा भी आपने वहीं के स्कूल में पायी। लड़कपन ही से आपको कहानियाँ लिखने का शौक रहा। आपने गम्भीर और हास्य-व्यंग-पूर्ण कहानियाँ लिखी हैं आपने व्यंग और हास्य-पूर्ण कहानियाँ "घोस, बोस, बनर्जी, चटर्जी" नाम से लिखी हैं, जिनकी अच्छी प्रशंसा हुई है। आप बहुत सरल-स्वभाव एवं अपने सम्बन्ध में स्पष्टभाषी हैं। जीवन के विविध संघर्षों से आपने अपनी कहानियों के लिए सर्वापेक्षा अधिक उपकरण चुने हैं।

प्रोफेसर भीमभंटाराव

श्रीयुत गोलूमिर्चफोरनदास भट्टाचार्य आजकल बड़े आदमी गिने जाते हैं। पहले कालेज में हम लोग नित्य इनका नवीन नाम-करण-संस्कार करते थे; लेकिन अब उन्होंने खुद अपना एक विकटाकार नाम रख लिया है। तब से हम लोग भी अपने-अपने काम-धन्धों में लग गये और उनका नामकरण बन्द हो गया। अब वे भीमभंटा सिह राव कुलकर्णी के नाम से अपना परिचय देते हैं, और हम लोग भी उन्हें इसी नाम से पुकारते हैं। बाकी नामों को दिमाग के किसी अण्डमन टापू में भेज दिया गया या बंगाल की खाड़ी में डुबा डाला गया।

इससे यह न समझा जाय कि इनके माता-पिता इनको जन्म देने के बाद इनका नाम रखना ही भूल गये। उन्होंने बहुत सोच-विचार और तर्क-वितर्क करके इनका नाम रखा था—भामिनी-भूषण भट्टाचार्य। मेरे ही मुहल्ले में रहते थे और मेरे सहपाठी थे। पढ़ने-लिखने और तिलंगी उड़ाने में उन्हें कमाल हासिल था; लेकिन एक बात जरूर थी, पढ़ने की ओर ज्यादा झुकाव होने के कारण दोस्तों की चकल्लसबाजी की ओर इनका ध्यान कम जाता था। फलतः मिडिल क्लास में इनका नाम बुद्धू भट्टाचार्य रखा गया। मैट्रिक पहुँचते-पहुँचते इनके कई नाम और भी रखे गये, जिनमें चापड़चन्द्रम् एक मुख्य और प्रसिद्ध नाम था। मैट्रिक पास करके हम लोग कलकत्ता गये। प्रेसिडेंसी कालेज में जगह न मिली, तो विद्यासागर कालेज में भर्ती हुए। वहाँ होस्टल में बंगालियों की एक जबरदस्त जमात थी, जो रोज-रोज इनका नवीन नाम रख-रखकर नामों की याद करके ये भी उतना ही हँसते, जितना इनके मित्र और सहपाठी लोग हँसा करते थे।

हम लोग साथी थे। पढ़ाई-लिखाई की नौका किसी-किसी तरह बी० ए० के पास-घाट तक लगी, और मैंने मोटी-मोटी साइकोलॉजी और संस्कृत की पोथियों को प्रणाम करके सीधे घर का रास्ता लिया। फिर उसके बाद, जैसा कि दस्तूर है डिप्टी मैजिस्ट्रेटी, आई० पी०, रजिस्ट्रार आदि की उम्मीददारी करते-करते अन्त में पैंतीस रुपये मासिक की किरानीगीरी की कुर्सी पर विश्राम ले लिया। भट्टाचार्य डिप्टी मैजिस्ट्रेटी से लेकर सब-रजिस्ट्रारी और बी० इ० डी० की उम्मीद-

वारी तक तो साथ था, लेकिन बाद में किधर 'फिरण्ट' हो गया, यह मुझे नहीं मालूम। एक दिन गर्मी के दिनों में अकस्मात् आपके दर्शन हुए; कुछ दुबले-पतले नजर आते थे। नाक जरा कुछ संगीन की तरह निकल आयी थी, और आँखों पर चश्मा चढ़ गया था। मैंने पूछा—कोथाय भट्टाचार्य ?

भट्टाचार्य ने जवाब दिया—अब तो भाई, 'लॉ' ज्वायन किया है। वकील होकर आऊँगा। केस-टेस होने से दिया करना, उसमें से फीस का आधा दस्तूर के मुताबिक जरूर दे दिया करूँगा।

मैंने आश्वासन दिया कि पहले तुम वकील तो हो जाओ, पीछे केस-टेस देखा जायगा। गुड़ के निकट जिस तरह चींटे बिना किसी निमंत्रण या आह्वान के आप-से-आप जमा हो जाते हैं, उसी तरह वकील के निकट मुअक्किल मक्खियों की भाँति भिनभिनाने लगते हैं।

भट्टाचार्य ने चश्मे को पोंछकर कहा—सो भाई, यह गलत बात है। इस पर मैं तुमसे बहुत 'डिफर' करके अलग चला जाता हूँ। अब वकीलों के सत्ययुग के दिन नहीं रहे। दिन-भर बहस करने के बाद भी चार आना खैरात की तरह मिलता है, सो भी अगर उधार में चला गया, तो और मुश्किल !

'ठीक है'—मैंने कहा—'बचपन से ही तुम एक-से-एक चुस्त बात कह दिया करते हो, तुम्हारी बात को आरा भी नहीं काट सकता। तो क्या विचार है ? मैं अभी से तुम्हारे लिए 'केस' पकड़ने की कोशिश करता रहूँ।"

भट्टाचार्य की बाँछें खिल गयीं। कुर्सी पर अकड़ कर बोले—हम लोग जीवनपर्यन्त एक ही साथ रहे। एक ही साथ पढ़ा-लिखा, सब कुछ किया। घर भी हम लोगों का पड़ोस में ही है। यह तुम्हारा घर है, तो, वह देखो— मेरा घर है। ख्याल करो, मैं यहीं से बैठा-बैठा अपना घर देख सकता हूँ। हमारे समय पर तुम काम आओगे, तुम्हारे समय पर मैं भी यथाशक्ति काम आऊँगा। हाँ, तो तुम ऐसा करो, तुम्हारे पास जितने दिहाती-शहरी मुकदमेबाज आया करें, सब से तुम यही कहा करना कि एक मेरा मित्र भट्टाचार्य कानून पढ़ रहा है। एक साल के बाद वकील होकर आवेगा, तो हाकिमों के छक्के छुड़ा देगा। कैसा भी सड़ा हुआ 'केस' हो, वह उसे जरूर जीत लेगा—जरूर जीत लेगा—तुम ख्याल रखो, वह उसे जीते बिना हरगिज नहीं छोड़ेगा, कभी नहीं छोड़ेगा !

कहते समय भट्टाचार्य के दाँत आपस में किटकिटाने लगे। आँखें चढ़

गयीं, ललाट सिकुड़ गया और आवेश के साथ अपनी बात की समाप्ति के विराम-स्वरूप जो उसने टेबुल पर घूँसा मारा, तो मेरा 'पेपरवेट' साफ बित्ता-भर ऊपर उछल गया।

मैंने कहा—बेशक ! तुम जरूर मुकद्दमा जीतोगे।

भट्टाचार्य प्रसन्न होकर बोला—इससे हमारा... नहीं-नहीं, तुम्हारा भी क्या लाभ होगा, इसे भी समझ लो। बार-बार एक ही बात को कहने से आदमी का विचार कुछ दूसरा हो जाता है। मनुष्य सोचता है कि जिस आदमी की इतनी प्रशंसा हो रही है, उसमें कुछ वास्तविक तथ्य भी है या नहीं। तब आदमी मुकद्दमा लेकर मेरे पास आवेगा, और फिर जो आदमी इस मकड़ी के जाले में फँसा, सो फँसा !

यह कह कर उसने अपने भाव-प्रदर्शन के द्वारा मकड़ी के जाले का एक मानसिक चित्र अंकित करके बतला दिया। बोला—इसमें जो घुस गया, वह घुस गया, फिर तुम्हीं बोलो, किधर से निकल सकता है ?

मैंने उसके विचित्र भाव-प्रदर्शन को लक्ष्य करके कहा, —यार, अगर, तुम सिनेमा में चले जाओ, तो नाम कमा लो। सहगल की तरह नाम निकाल लोगे।

भट्टाचार्य ने नाक-भौं सिकोड़ कर कहा—सहगल तो वैसा नामी नहीं है; हाँ, अलबत्ता कानन और पहाड़ी सान्याल का नाम सिनेमा लाइन में बहुत ज्यादा है। लेकिन तुम से मैं अन्तिम बार कहे जाता हूँ कि मेरे लिए 'केस-टेस' जरूर ठीक रखना।

मैंने यथाशक्ति तथाभक्ति का आश्वासन देकर उन्हें बिदा कर दिया। जाते समय भी वे कहते गये—उसमें आधा तुम्हारा और आधा मेरा !

बस, यही हमारे भट्टाचार्य का अन्तिम संक्षिप्त परिचय है; बाकी अगर उनमें कोई खास बात थी, तो यही कि वे नास बहुत सूँघते थे और जरा भी नहीं छींकते थे।

२

उसके ठीक दो-तीन महीने बाद मैंने भट्टाचार्य को उसके घर में घुसते हुए देखा। तबीयत हुई—पुकारें, फिर कहा, चलो जरा चलकर मिल ही लें। पुनः विचार आया कि अब नाश्ता-पानी करके चलना ठीक होगा।

थोड़ी देर बाद जलपान करके भट्टाचार्य के घर के समीप पहुँचा, तो देख रहा हूँ कि भट्टाचार्य का चेहरा कभी खिड़की से दिखलाई देता है, और फिर गायब हो जाता है। क्षण-भर में ही खिड़की पर दिखाई दिया, और गायब हो गया ! पुनः दिखलाई दिया, पुनः अन्तर्धान हो गया ! आखिर बात क्या है ?

देखा, चेहरा तमतमाया हुआ, आँखें लाल-लाल सुर्ख ! और दिखलाई देता है, फिर गायब हो जाता है, कैसा जादू है ? मैंने घबरा कर किवाड़ खटखटाये; भीतर से उसने पूछा—कौन ? क्या माँगता है ?

मैंने लक्ष्य किया, आवाज भारी है और हाँफती हुई निकल रही है। क्या बात है ? घपले में पड़े हुए मैंने एक कुर्सी खींच ली और बाहर ही बैठ गया ! सहसा कुछ ही क्षणों में कमरे के अन्दर धमाधम-धमाधम की आवाज आने लगी। ऐसा मालूम हुआ, जैसे कमरे के अन्दर किसी के साथ उसकी उठा-पटक हो रही है। मैंने घबराकर कई बार पुकारा; लेकिन भीतर से 'हूँ हूँ' की आवाज के सिवा कोई उत्तर नहीं मिला। उसके बाद कमरे की आपा-धापी और उठा-पटक की आवाज विलुप्त हो गयी। मैंने सोचा, अब दरवाजा खुलेगा; लेकिन दूसरे ही क्षण मालूम हुआ कि कमरे के अन्दर कोई उछल रहा है। कभी इस कोने में उछलता है, कभी उस कोने में, कभी अरर्रधम्म, अरर्रधम्म किसी के गिरने की आवाज भी आती है।

आखिर बात क्या है ? भट्टाचार्य को हो क्या गया ? अन्दर वह नाच रहा है या दस-पाँच आदमियों से कुश्ती लड़ रहा है, कुछ पता नहीं लगता। इसी समय कमरे का दरवाजा खुला और दुबले-पतले शरीर पर लँगोट कसे भट्टाचार्य महोदय के दिव्य दर्शन हुए। नमस्कार करके कहा—मैंने तो समझा था कि कोई तुम्हें उठा-उठा कर पटक रहा है !

भट्टाचार्य ने कहा—मुझे कोई भला क्या पटकेगा; बल्कि मैं ही अभी पचास काल्पनिक पहलवानों को कुश्ती में पछाड़ कर आया हूँ।...आओ, अन्दर आओ, बैठें।

अन्दर पहुँचकर मैंने देखा, कमरे की हुलिया ही बिलकुल बदल गयी है। जहाँ एक वृहदाकार टेबुल थी, वहाँ अब सिर्फ उसकी दो टाँगें ही पृथक्-पृथक् विद्यमान थीं, जिनसे सम्भवतः मुगदर का काम लिया जाता था। चेस्ट-ऐक्सपैंडर, डम्बल आदि कई ऐसी अनोखी चीजें मैंने उस कमरे में देखी। मुझे कभी स्वप्न

में भी अनुमान नहीं था कि भट्टाचार्य को कभी भी व्यायाम से इस प्रकार रुचि होगी। मैंने कहा—मेरा ख्याल है, अभी तुम व्यायाम कर रहे थे।

भट्टाचार्य कुर्सी पर बैठ कर बोला—हाँ, बस, व्यायाम ही इन दिनों मेरा जीवन-सर्वस्व हो गया है। मेरी स्पष्ट धारणा है कि व्यायाम से ही भारतवर्ष का उद्धार हो सकता है!

मैं आखिर क्या कहता! उसी की हाँ-में-हाँ मिलायी।

बोला—विचार तो बहुत ही उज्ज्वल है।

वह धोती पहनने लगा। धोती बाँध कर कहा—आज मैं महात्मा गांधी, आचार्य कृपलानी और राजेन्द्र बाबू के पास एक पत्र लिखने वाला हूँ। मेरा ख्याल है कि सत्याग्रह-संग्राम में भी व्यायाम की सख्त जरूरत है। सत्याग्रह-संग्राम वस्तुत: क्या है? उसमें यही है कि हमें मारो, लेकिन बदले में हम तुम्हें न मारेंगे। इसके लिए शरीर में ताकत होनी चाहिए, मिजाज में धैर्य होना चाहिए। इसके लिए व्यायाम की कितनी सख्त जरूरत है, यह तुम अच्छी तरह समझ सकते हो।

मैंने कहा—यह तो ठीक है; लेकिन मेरा ख्याल है कि आजकल तुम क़ानून के लेक्चरों को व्यर्थ ही छोड़ रहे हो।

उसने कहा—कानून तो मैंने कतई छोड़ ही दिया। अब मैंने व्यायाम को अपनाया है। तुम देखते हो, आज-कल मैं दुगुना हो गया हूँ। बहुत सम्भव है, दो-चार दिनों के अन्दर ही मोटरें रोकने लगूँगा। तो तुम समझ गये होगे कि कानून पढ़ने से व्यायाम करना कहीं ज्यादा हितकर है। इसमें फायदा होगा ही। कानून पढ़ने से झख मारना पड़ता है। महीने में तीस रुपये निकल आये तो बहुत समझ लो। आज मैं दुगुना दिखलाई देता हूँ, कल तिगुना दिखलाई दूँगा, परसों चौगुना हो जाऊँगा।

मैंने गौर से उसे देखा; लेकिन कोई तबदीली नहीं मालूम होती थी—बिलकुल वही-का-वही! मैंने अविश्वासपूर्वक कहा—भाई, जो कहो, लेकिन दुगुना तो नहीं मालूम होते!

भट्टाचार्य चौंक कर बोला—नहीं कैसे मालूम होता; अवश्य मालूम होता हूँ। मेरी 'मस्ल' देखते हो? लो, देख लो!

यह कहते हुए वह विचित्र रूप से अकड़ गया, साँस फुला ली और भुजदण्ड मरोड़ कर पीठ की 'मस्ल' दिखलाने लगा। अगर शरीर में कहीं मांस-वांस हो,

तो मस्ल दिखलाई भी दे जाय; लेकिन हड्डी की 'मस्ल' न आज तक किसी ने देखी है, और न मैं ही देख सका। मन-ही-मन सोचा, शायद यह माइक्रोस्कोप से अपनी 'मस्ल' देखा करता होगा ! पीठ-पेट, छाती, भुजा आदि सभी प्रकार की 'मस्लों' का दर्शन कराने के बाद भट्टाचार्य ने पूछा—देख लिया ?

मैंने धीरे से कहा—खूब देख लिया ; क्या शरीर है ! गामा से भी आगे निकल जाओगे।

भट्टाचार्य पुनः कुर्सी पर बैठ गया और निश्चिन्त होकर बोला—अभी गामा की क्या बात, थोड़े दिनों में देखना, मैं बंगाल के सुप्रसिद्ध पहलवान 'गोबर' से भी हेल्थ में आगे बढ़ जाऊँगा।

विचित्र विश्वास था ! यदि मैं इसके विरुद्ध कुछ कहूँ तो डर था, कहीं बिगड़ न जाय; लेकिन बचपन की दोस्ती तकाजा कर रही थी कि मैं कुछ जरूर कहूँ। [illegible] तुम्हें अपने दिमाग में कहीं गड़बड़ तो नहीं मालूम होती ?

भट्टाचार्य तेज होकर बोला—तुम समझते होगे, मैं गलत रास्ते पर हूँ; लेकिन वस्तुतः मैं ठीक हूँ। तुम्हारी तरह मैं किरानी होकर झख नहीं मारना चाहता। मैंने तुमसे पहले ही कह दिया है कि जिस दिन अपने को समतल भूमि पर खड़ा पाऊँगा, उसी दिन मैं समझूँगा कि मैं मर गया। तुम जानते हो, तीस-बत्तीस की वकालत से मेरा पेट नहीं भर सकता। मुझे हमेशा सौ से ऊपर चाहिए , नहीं तो मैं समतल भूमि पर खड़ा हो जाऊँगा।

विचित्र बात थी। मैं सुनता रहा; लेकिन कुछ भी नहीं समझ सका। उसने जोर से कहा—मैंने सिगरेट, चाय और कानून, तीनों चीजों को छोड़ दिया है। यह मेरी अक्लमन्दी की निशानी है, मैं बड़ा आदमी होना चाहता हूँ, किरानी होकर मेरी गुजर नहीं हो सकेगी। आज मेरा नाम है—भीमसंटा राव कुलकर्णी, व्यायाम-विशारद, मुगदराभिभूषित, डम्बलद्वयी, त्रिदण्डकारक !

मैंने निश्चय किया कि यह अवश्य पागल हो गया है। यदि अभी तक पूरा पागल नहीं हुआ, तो दो-चार दिनों के अन्दर पागलखाने ले जाने लायक जरूर हो जायगा।

उसने पुनः कहा—मैंने अपना नाम बदल दिया है, हेल्थ भी बढ़ा ली है, अब मैं संसार में अवश्य ही कुछ कर सकूँगा।

लेकिन जैसी उसकी हेल्थ थी, उससे मेरी हेल्थ ही कहीं अच्छी थी। उसके उज्ज्वल भविष्य की कल्पना का आनन्द लेता हुआ मैं घर लौट आया, उसी दिन को मैंने भीमभंटाराव की कहानी क्लब में सुनायी, तो लोगों ने आश्चर्य से सुनी और हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये !

३

किरानीगिरी के वेतन से पेट भर तो जरूर जाता है, लेकिन जिन चीजों से पेट भरने की इच्छा रहती है, उन चीजों के बदले किन्हीं दूसरी चीजों को ही पेट में ठूँसना पड़ता है। बीवी का कहना है—मैंने तुमसे विवाह कर अपना 'फ्यूचर प्रास्पेक्ट' बिलकुल बरबाद कर दिया—न ईयरिंग, न नेकलेस और न हेलियोट्रैप की साड़ी ही ! ठीक है, बिना अलंकारों के कविता भी जब अच्छी नहीं लगती, तो अलंकार-विहीना नारी कैसी लगेगी ! श्रीमती के मुँह से यह भी सुना है कि पाँच-छः महीने के अन्दर ही मेरे घर में निर्घोष वर्मा नामक कोई पुत्र या खद्योत-कुमारी नाम की एक पुत्री पैदा होने वाली है। कहीं दोनों जुड़वाँ अवतीर्ण हो गये तो और भी गजब होगा ! फलतः किरानीगिरी से मुझे वितृष्णा होती है। दूर-दूर तक आँखें पसारता हूँ; लेकिन डरबी के दौड़ने वाले घोड़ों के अतिरिक्त कुछ भी नजर नहीं आता। कई बार लाटरी के टिकट भी लिये; लेकिन मेरे टिकट ऐसे फिसड्डी निकले कि दौड़ कर दौड़ने या न दौड़ने वाले घोड़ों तक भी नहीं पहुँच पाये और रास्ते में ही उनका अस्तित्व विलुप्त हो गया। उन्हीं दिनों सुना, मेरे आफिस के नन्दबाबू को, 'इलस्ट्रेटेड वीकली' की 'वर्ग-पहेली' की खानापूरी करने में तीन सौ रुपये मिले हैं। मजा तो यह कि इन्होंने जो पूर्ति भेजी थी, उसमें तीन गलतियाँ भी मौजूद थीं। मैंने सोचा, मैं ऐसी गलती नहीं करूँगा। मुझसे तीन गलतियाँ तो कभी हो नहीं सकतीं। मैंने अपने जीवन-भर में केवल एक ही गलती की है; और वह गलती यही है कि मैंने इस मृत्युलोक में जन्म ले लिया। यही सब कुछ सोच-विचार कर मैंने तय किया कि तीन गलतियाँ तो मुझसे कभी होंगी नहीं, बहुत होगी, तो एक गलती, जो सदा होती आयी है। इसके लिए कम-से-कम एक हजार रुपये पुरस्कार ! वाकई यह 'इलस्ट्रेटेड वीकली' ही है, जो गलतियों के लिए भी पुरस्कार देता है ! और नहीं तो हम सदा से सुनते आये हैं कि गलती करने पर दण्ड मिलता है। मैंने प्रण किया कि अब से बराबर वर्ग-पहेली में भाग लेकर अपना भाग्य जगाऊँगा। अब भाग्य जगाने के

सरीखे हाथ-पाँव रख कर तुमने अपनी व्यायाम-प्रणाली ही निकाल डाली। जो लोग भैंस को बड़ी कहते हैं वे गलती करते हैं, अक्ल ही सब से बड़ी चीज है। विज्ञापन देखने के बाद मुझसे स्थिर होकर बैठा नहीं गया। तुरन्त भीमभंटाराव के पास पहुँचा। आज पाँच-छः महीने के बाद देखा कि कमरे के डम्बल-वम्बल गायब हो गये हैं और वहाँ बाकायदा आफिस बना है। प्रोफेसर भीमभंटाराव मौज से टाइप कर रहे थे। मैंने कहा—यार, तुमने तो गजब कर डाला!

प्रोफेसर साहब ने मेरी पीठ ठोक कर कहा—गुड लक! मैं अभी तुम्हारे पास जाने वाला था। मुझे आज से अभी से इसी वक्त से पैंतालीस रुपये माहवारी परएक ग्रैजुएट किरानी की सख्त जरूरत है। काम ज्यादा नहीं है; दो घंटे सुबह और तीन घंटे रात को। मेरा विश्वास है कि तुम इस काम को कर सकोगे। मेरे यहाँ एक किरानी प्रोस्पेक्टस विभाग में काम करता है; लेकिन मैं तुम्हें प्राइवेट काम के लिए रखना चाहता हूँ। रहोगे?

मैंने प्रसन्नतापूर्वक कहा—यथास्तु! सोऽहं। भई भीमभंटाराव! तुम्हारा जादू चल गया!

ज़रूर चल गया!—प्रोफेसर भीम ने कहा—अगर वकील होता, तो मारा-मारा फिरता। आज व्यायाम-पद्धति के चलते मैं तीन सौ मासिक कमा रहा हूँ। मेरा विश्वास है, विलायत के पत्रों में विज्ञापन देते ही मेरी आमदनी चौगुनी हो जायगी। यहाँ कोई थोड़े ही देखने आता है कि प्रोफेसर भीमराव कैसे आदमी हैं। जैसे-जैसे मेरा आर्डर बढ़ेगा, वैसे-वैसे तुम्हारे वेतन में भी तरक्की होती जायगी। यह लो, अभी से ही काम करना शुरू कर दो। आओ इधर, टाइपराइटर सँभाल लो। यह देखो, यह एक मिनिस्टर साहब की पर्दानशीन बीबी की चिट्ठी है। वे लिखती हैं कि मैं बहुत मोटी हो गयी हूँ, क्या करूँ? इन्हें जवाब में लिखो—माई डियर सो एण्ड सो, आप अपने आँगन में एक बीस हाथ का खूँटा गाड़ कर, रोज सुबह और शाम बीस दफे चढ़ा और उतरा कीजिए। खाने के लिए सुबह आध पाव छुहारा और आधा सेर दूध, शाम को पापड़ और बिस्कुट। चलो, हटाओ। अब दूसरा पत्र दो।...

दूसरा पत्र एक मेम साहब का था। बेचारी ने कलप कर बड़ी कारुणिक भाषा में लिखा था—मेरे गाल पिचक गये हैं, इसी अपराध के कारण मेरे पतिदेव मुझे तलाक देना चाहते हैं। यदि आपकी व्यायाम-प्रणाली से मैं कुछ भी लाभ

उठा सकी, तो अपना अहोभाग्य समझूँगी, नहीं तो मैंने भी एक दूसरा पति तलाश कर लिया है; लेकिन वह अधिक उपहार नहीं दे सकता।

प्रोफेसर भीमभंटाराव कुलकर्णी ने जवाब भेजा—रोज पाँच बार नाक को, जितना मसल सको उतना मसला करो। खूब अधिक मसलने पर सिर्फ एक महीने के अन्दर-ही-अन्दर तुम्हारे गाल उभर आयेंगे, बल्कि सेब की तरह लाल भी रहा करेंगे।

एक विद्यार्थी ने लिखा था—मैं पुलिस की सब-इन्सपेक्टरी के लिए खड़ा होना चाहता हूँ; लेकिन मैं कद में सिर्फ दो इंच कम हूँ। कृपा कर के मेरी ऊँचाई बढ़ा दीजिए।

उसे जवाब दिया गया—आप किसी पेड़ की डाली पकड़ कर लटक जाइए। रोज कभी चमगादड़ की तरह लटकिए, कभी बन्दर की तरह डाल पकड़ कर झूलिए; शर्तिया लम्बे हो जाइएगा। खाने के लिए मुर्गी का अंडा और दूध।

इस भाँति प्रोफेसर साहब की नौकरी बजा कर खुशी-खुशी घर लौटा, तो श्रीमतीजी ने जताया—नौवाँ महीना सिर पर सवार है, निर्घोष वर्मा वा खद्योत-कुमारी कभी-भी आ सकती हैं।

मैंने गर्वपूर्वक डट कर कहा—आने दो, कुछ परवाह नहीं है!

अज्ञेय

(जन्म—१९११ ई०)



आपका पूरा नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन है। पिता डाक्टर हीरानन्द शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी० पुरातत्त्व विभाग में थे। वे कसया, गोरखपुर में जब खुदाई का काम करा रहे थे, तब वहीं अज्ञेयजी का जन्म हुआ। अज्ञेयजी अपने पिता के साथ अनेक प्रान्तों में रह चुके हैं और वहाँ के स्कूलों में पढ़ चुके हैं। १९२५ में एक मद्रासी मास्टर से पढ़ कर प्राइवेट तौर पर मैट्रिक पास किया। तदनन्तर इंटर भी मद्रास से पास किया। बी० एस-सी० की परीक्षा १९२९ में लाहौर से पास की। एम० ए० में अंग्रेजी लेकर डेढ़ बरस तक पढ़ चुके थे, जब नवम्बर १९३० में क्रान्तिकारी आन्दोलन में गिरफ्तार हो गये। लिखने की रुचि तभी से है, जब से विद्याध्ययन आरम्भ हुआ। आप कविता, कहानी और उपन्यास के प्रतिष्ठित कृतिकार माने जाते हैं। आपने देश-विदेश की यात्रा भी खूब की है। ज्ञानार्जन आपकी विशेष "हावी" है।

रोज

दोपहरिए में उस घर के सूने आँगन में पैर रखते ही मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो उस पर किसी शाप की छाया मँडरा रही हो। उसके वातावरण में कुछ ऐसा अकथ्य; किन्तु फिर भी बोझल और प्रकम्पमय और घना-सा फैल रहा था...।

मेरी आहट सुनते ही मालती बाहर निकली। मुझे देखकर, पहचान कर उसकी मुरझाई मुख-मुद्रा तनिक-से मीठे विस्मय से जागी-सी और फिर पूर्ववत् हो गयी। उसने कहा—आ जाओ।—और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये भीतर की ओर चली। मैं भी उसके पीछे हो लिया।

भीतर पहुँच कर मैंने पूछा—वे यहाँ नहीं हैं ?

'अभी आये नहीं, दफ्तर में हैं। थोड़ी देर में आ जायेंगे। कोई डेढ़-दो बजे आया करते हैं!'

'कब के गये हुए हैं ?'

'सबेरे उठते ही चले जाते हैं—'

मैं 'हूँ' कह कर पूछने को हुआ—'और तुम इतनी देर क्या करती हो ?' पर फिर सोचा, आते ही एकाएक यह प्रश्न ठीक नहीं है। मैं कमरे के चारों ओर देखने लगा।

मालती एक पंखा उठा लायी, और मुझे हवा करने लगी। मैंने आपत्ति करते हुए कहा—नहीं, मुझे नहीं चाहिए; पर वह नहीं मानी, बोली—वाह! चाहिए कैसे नहीं ? इतनी धूप में तो आये हो। यहाँ तो—

मैंने कहा—अच्छा लाओ मुझे दे दो।

वह शायद 'ना' करने को थी; पर तभी दूसरे कमरे से शिशु के रोने की आवाज सुन कर उसने चुपचाप पंखा मुझे दे दिया और घुटनों पर हाथ टेक कर एक थकी हुई 'हुँह' कर के उठी और भीतर चली गयी।

मैं उसके जाते हुए दुबले शरीर को देख सोचता रहा—यह क्या है...यह कैसी छाया-सी इस घर पर छायी हुई है...

मालती मेरी दूर के रिश्ते की बहिन है, किन्तु उसे सखी कहना ही उचित है, क्योंकि हमारा परस्पर सम्बन्ध सख्य का ही रहा है। हम बचपन से इकट्ठे खेले हैं, इकट्ठे लड़े और पिटे हैं, और हमारी पढ़ाई भी बहुत कुछ इकट्ठे ही हुई थी। और हमारे व्यवहार में सदा सख्य की स्वेच्छा और स्वच्छन्दता रही है, वह कभी भ्रातृत्व के, या बड़े-छोटेपन के बन्धनों में नहीं घिरा।

मैं आज कोई चार वर्ष बाद उसे देखने आया हूँ। जब मैंने उसे इससे पूर्व देखा था, तब वह लड़की ही थी। अब वह विवाहिता है, एक बच्चे की माँ भी है। इससे कोई परिवर्तन उसमें आया होगा और यदि आया होगा तो क्या, यह मैंने अभी तक सोचा नहीं था; किन्तु अब उसकी पीठ की ओर देखता हुआ मैं सोच रहा था, यह कैसी छाया इस घर पर छायी हुई है. . .और विशेषतया मालती पर. . .

मालती बच्चे को लेकर लौट आयी और फिर मुझसे कुछ दूर नीचे बिछी हुई दरी पर बैठ गयी। मैंने अपनी कुर्सी घुमा कर कुछ उसकी ओर उन्मुख होकर पूछा—'इसका नाम क्या है?'

मालती ने बच्चे की ओर देखते हुए उत्तर दिया—नाम तो कोई निश्चित नहीं किया, वैसे टिटी कहते हैं।

मैंने उसे बुलाया—टिटी! टिटी! आ जा!—पर वह अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से मेरी ओर देखता हुआ अपनी माँ से चिपट गया, और रुआँसा-सा होकर कहने लगा—उहुँ, उहूँ-उहूँ-ऊँ. . .।

मालती ने फिर उसी ओर एक नजर देखा, और फिर बाहर आँगन की ओर देखने लगी।

काफी देर तक मौन रहा। थोड़ी देर तक तो वह मौन आकस्मिक ही था, जिसमें मैं प्रतीक्षा में था कि मालती कुछ पूछे; किन्तु उसके बाद एकाएक मुझे ध्यान हुआ, मालती ने कोई बात ही नहीं की—यह भी नहीं पूछा कि मैं कैसा हूँ, कैसे आया हूँ. . .चुप बैठी है, क्या विवाह के दो वर्ष में ही वे बीते दिन भूल गयी? या अब मुझे दूर—इस विशेष अन्तर पर—रखना चाहती है? क्योंकि वह निर्बाध स्वच्छन्दता अब तो नहीं हो सकती. . .पर फिर भी, ऐसा मौन, जैसा अजनबी से भी नहीं होना चाहिए. . .

मैंने कुछ खिन्न-सा होकर, दूसरी ओर देखते हुए कहा—जान पड़ता है,

तुम्हें मेरे आने से विशेष प्रसन्नता नहीं हुई।

उसने एकाएक चौंक कर कहा—हूँ?

यह 'हूँ' प्रश्नसूचक था; किन्तु इसलिए नहीं कि मालती ने मेरी बात सुनी नहीं थी, केवल विस्मय के कारण। इसलिए, मैंने अपनी बात दुहरायी नहीं, चुप बैठा रहा। मालती कुछ बोली ही नहीं, तब थोड़ी देर बाद मैंने उसकी ओर देखा। वह एकटक मेरी ओर देख रही थी; किन्तु मेरे उधर उन्मुख होते ही उसने आँखें नीची कर लीं। फिर भी मैंने देखा—उन आँखों में कुछ विचित्र-सा भाव था; मानों मालती के भीतर कहीं कुछ चेष्टा कर रहा हो, किसी बीती हुई बात को याद करने की, किसी बिखरे हुए वायुमण्डल को पुनः जगा कर गतिमान करने की, किसी टूटे हुए व्यवहार-तन्तु को पुनरुज्जीवित करने की, और चेष्टा में सफल न हो रहा हो...वैसे जैसे बहुत देर से प्रयोग में न लाये हुए अंग को कोई व्यक्ति एकाएक उठाने लगे और पाये कि वह उठता ही नहीं है, चिर-स्मृति में मानो मर गया है, उतने क्षीण बल से (यद्यपि वह सारा प्राप्य बल है) उठ नहीं सकता... मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो किसी जीवित प्राणी के गले में किसी मृत जन्तु का तौक डाल दिया गया हो, वह उसे उतार कर फेंकना चाहे, पर उतार न पाये...।

तभी किसी ने किवाड़ खटखटाये। मैंने मालती की ओर देखा; पर वह हिली नहीं। जब किवाड़ दूसरी बार खटखटाये गये, तब वह शिशु को अलग करके उठी और किवाड़ खोलने गयी।

वे, यानी मालती के पति आये। मैंने उन्हें पहली ही बार देखा था, यद्यपि फोटो से उन्हें पहचानता था। परिचय हुआ। मालती खाना तैयार करने आँगन में चली गयी, और हम दोनों भीतर बैठ कर बातचीत करने लगे। उनकी नौकरी के बारे में, उनके जीवन के बारे में, उस स्थान के बारे में, आबोहवा के बारे में और ऐसे अन्य विषयों के बारे में, जो पहले परिचय पर उठा करते हैं, एक तरह का स्वरक्षात्मक कवच बन कर...।

मालती के पति का नाम है महेश्वर। वे एक पहाड़ी गाँव में सरकारी डिस्पेंसरी के डाक्टर हैं। उसी हैसियत से इन क्वार्टर्स में रहते हैं। प्रातःकाल सात बजे डिस्पेंसरी चले जाते हैं और डेढ़ या दो बजे लौटते हैं। उसके बाद दोपहर-भर छुट्टी रहती है। केवल शाम को एक-दो घंटे फिर चक्कर लगाने के लिए जाते हैं। डिस्पेंसरी के साथ के छोटे-से अस्पताल में पड़े हुए रोगियों को देखने और अन्य जरूरी

हिदायतें करने से उनका जीवन भी बिलकुल एक निर्दिष्ट ढर्रे पर चलता है। नित्य वही काम, उसी प्रकार के मरीज़, वही हिदायतें, वही नुस्खे, वही दवाइयाँ। वे स्वयं उकताये हुए हैं। और इसलिए और साथ ही इस भयंकर गर्मी के कारण वे अपने फुरसत के समय में भी सुस्त ही रहते हैं...

मालती हम दोनों के लिए खाना ले आयी। मैंने पूछा—तुम नहीं खाओगी? या खा चुकीं?

महेश्वर बोले, कुछ हँसकर—वह पीछे खाया करती हैं...।

पति ढाई बजे खाना खाने आते हैं! इसलिए पत्नी तीन बजे तक भूखी बैठी रहेगी!

महेश्वर खाना आरम्भ करते हुए मेरी ओर देख कर बोले—

आपको तो खाने का मजा क्या ही आयेगा, ऐसे बेवक्त खा रहे हैं।

मैंने उत्तर दिया—वाह! देर से खाने पर तो और भी अच्छा लगता है—भूख बढ़ी हुई होती है; पर शायद मालती बहिन को कष्ट होगा।

मालती टोककर बोली—उँहुँ, मेरे लिए तो यह नयी बात नहीं है। रोज ही ऐसा होता है...।

मालती बच्चे को गोद में लिए हुए थी। बच्चा रो रहा था; पर उसकी ओर कोई भी ध्यान नहीं दे रहा था।

मैंने कहा—यह रोता क्यों है?

मालती बोली—हो ही गया है चिड़चिड़ा-सा, हमेशा ही ऐसा रहता है!—फिर बच्चे को डाँट कर कहा—चुप रह! जिससे वह और भी रोने लगा। मालती ने भूमि पर बिठा दिया और बोली—अच्छा ले, रो ले! और रोटी लेने आँगन की ओर चली गयी।

जब हमने भोजन समाप्त किया, तब तीन बजने वाले थे। महेश्वर ने बताया कि उन्हें आज जल्दी अस्पताल जाना है, वहाँ एक-दो चिन्ताजनक केस आये हुए हैं, जिनका आपरेशन करना पड़ेगा—दो की शायद टाँगें काटनी पड़ें, Gangrene हो गया है...थोड़ी ही देर में वे चले गये। मालती किवाड़ बन्द कर आयी और मेरे पास बैठने ही लगी थी कि मैंने कहा—अब खाना तो खा लो, मैं उतनी देर टिटी से खेलता हूँ।

वह बोली—खा लूँगी, मेरे खाने की कौन बात है—किन्तु चली गयी।

मैं टिटी को हाथ में लेकर झुलाने लगा, जिससे वह कुछ देर के लिए शान्त हो गया।

दूर—शायद अस्पताल में ही, तीन खड़के। एकाएक मैं चौंका। मैंने सुना, मालती वहाँ आँगन में बैठी, अपने आप ही, एक लम्बी-सी थकी हुई साँस के साथ कह रही है—तीन बज गये...मानो बड़ी तपस्या के बाद कोई कार्य सम्पन्न हो गया हो...।

थोड़ी ही देर में मालती फिर आ गयी। मैंने पूछा—तुम्हारे लिए कुछ बचा भी था? सब कुछ तो...।

'बहुत था—'।

'हाँ, बहुत था! भाजी तो सारी मैं ही खा गया था, वहाँ बचा कुछ होगा नहीं, यों ही रोब तो न जमाओ कि बहुत था!'—मैंने हँसकर कहा।

मालती मानो किसी और विषय की बात कहती हुई, बोली—यहाँ सब्जी-वब्जी तो कुछ होती नहीं, कोई आता-जाता है, तो नीचे से मँगा लेते हैं। मुझे आये पन्द्रह दिन हुए हैं, जो सब्जी साथ लाये थे, वही अभी बरती जा रही है...।

मैंने पूछा—नौकर कोई नहीं है?

'कोई ठीक मिला नहीं, शायद दो-एक दिन में हो जाय।'

'बर्तन भी तुम्हीं माँजती हो?'

'और कौन?'—कह कर मालती क्षण-भर आँगन में जाकर लौट आयी।

मैंने पूछा—कहाँ गयी थीं?

'आज पानी ही नहीं है, बर्तन कैसे मँजेंगे।'

'क्यों, पानी को क्या हुआ?'

'रोज ही होता है—कभी वक्त पर तो आता नहीं। आज शाम को सात बजे आयेगा, तब बर्तन मँजेंगे।'

'चलो तुम्हें सात बजे तक छुट्टी तो हुई'—कहते हुए मैं मन-ही-मन सोचने लगा—'अब इसे रात के ग्यारह बजे तक काम करना पड़ेगा, छुट्टी क्या खाक हुई!'

यही उसने कहा। मेरे पास कोई उत्तर नहीं था; पर मेरी सहायता टिटी ने की, एकाएक फिर रोने लगा और मालती के पास जाने को चेष्टा करने लगा। मैंने उसे दे दिया।

थोड़ी देर फिर मौन रहा। मैंने जेब से अपनी नोटबुक निकाली और पिछले

दिनों के लिखे हुए नोट देखने लगा। तब मालती को याद आया कि उसने मेरे आने का कारण तो पूछा नहीं, और बोली—यहाँ आये कैसे ?

मैंने कहा ही तो—अच्छा, अब याद आया ? तुम से मिलने आया था, और क्या करने ?

'तो दो-एक दिन रहोगे न ?'

'नहीं, कल चला जाऊँगा, जरूरी जाना है।'

मालती कुछ नहीं बोली, कुछ खिन्न-सी हो गयी। मैं फिर नोटबुक की तरफ देखने लगा।

थोड़ी देर बाद मुझे भी ध्यान हुआ, मैं आया तो हूँ मालती से मिलने, किन्तु यहाँ वह बात करने को बैठी है और मैं पढ़ रहा हूँ ! पर बात भी क्या की जाय ? मुझे ऐसा लग रहा था कि इस घर पर जो छाया घिरी हुई है, वह अज्ञात रह कर भी मानो मुझे भी वश कर रही है, मैं भी वैसा ही नीरस निर्जीव-सा हो रहा हूँ, जैसे—यह घर, जैसे मालती...

मैंने पूछा—तुम कुछ पढ़ती-लिखती नहीं ?—मैं चारों ओर देखने लगा कि कहीं किताबें दीख पड़ें।

'यहाँ !'—कह कर मालती थोड़ा-सा हँस दी। वह हँसी, कह रही थी—यहाँ पढ़ने को है क्या ?

मैंने कहा—अच्छा, मैं वापस जाकर जरूर कुछ पुस्तकें भेजूँगा...और वार्तालाप फिर समाप्त हो गया।

थोड़ी देर बाद मालती ने फिर पूछा,—आये कैसे हो, लारी में ?

'पैदल।'

'इतनी दूर ? बड़ी हिम्मत की !'

'आखिर तुमसे मिलने आया हूँ।'

'ऐसे ही आये हो ?'

'नहीं, कुली पीछे आ रहा है, सामान लेकर।—मैंने सोचा—बिस्तरा ले ही चलूँ।'

'अच्छा किया, यहाँ तो बस...' कह कर मालती चुप रह गयी। फिर बोली—तब तुम थके होगे, लेट जाओ।

'नहीं, बिलकुल नहीं थका।'

'रहने भी दो, थके नहीं हैं ! भला थके नहीं हैं ?'

'और तुम क्या करोगी ?'

'बर्तन माँज रखती हूँ, पानी आयगा तो धुल जायँगे !'

मैंने कहा—वाह ! —क्योंकि और कोई बात मुझे सूझी नहीं. . .।

थोड़ी देर में मालती उठी और चली गयी, टिटी को साथ लेकर। तब मैं लेट गया और छत की ओर देखने लगा, और सोचने लगा. . .मेरे विचारों के साथ आँगन से आती हुई बर्तनों के घिसने की खन-खन ध्वनि मिल कर एक विचित्र एकस्वरता उत्पन्न करने लगी, जिसके कारण मेरे अंग धीरे-धीरे ढीले पड़ने लगे, मैं ऊँघने लगा. . .।

एकाएक वह एकस्वरता टूट गयी—मौन हो गयी। इससे मेरी तन्द्रा भी टूटी, मैं उस मौन में सुनने लगा—

चार खड़क रहे थे, और इसी का पहला घण्टा सुनकर मालती रुक गयी थी. . .।

वही तीन बजे वाली बात मैंने फिर देखी, अबकी बार और भी उग्र रूप में। मैंने सुना, मालती एक बिलकुल अनैच्छिक, अनुभूतिहीन, नीरस, यन्त्रवत्—वह भी थके हुए यन्त्र की भाँति—स्वर में कह रही है—'चार बज गये. . .' मानो इस अनैच्छिक समय गिनने-गिनाने में ही उसका मशीन-तुल्य जीवन बीतता हो, वैसे ही, जैसे मोटर का स्पीड-मीटर यन्त्रवत् फासला नापता जाता है, और यन्त्रवत् विश्रान्त-स्वर में कहता है (किससे !) कि मैंने अमित शून्यपथ का इतना अंश तय कर लिया. . .।

न जाने कब, कैसे मुझे नींद आ गयी. . .।

तब छः कभी के बज चुके थे, जब किसी के आने की आहट से मेरी नींद खुली, और मैंने देखा कि महेश्वर लौट आये हैं, और उनके साथ ही बिस्तर लिये हुए मेरा कुली। मैं मुँह धोने को पानी माँगने ही को था कि मुझे याद आया, पानी नहीं होगा। मैंने हाथों से मुँह पोंछते-पोंछते महेश्वर से पूछा—आपने बड़ी देर की ?

उन्होंने किञ्चित् ग्लानि भरे स्वर में कहा—हाँ, आज वह Gangrene का आपरेशन करना ही पड़ा। एक कर आया हूँ, दूसरे को एम्बुलेन्स में बड़े अस्पताल भिजवा दिया है

मैंने पूछा—Gangrene कैसे हो गया ?

'एक काँटा चुभा था, उसी से हो गया। बड़े लापरवाह लोग होते हैं यहाँ के...।'

मैंने पूछा—यहाँ आप को केस अच्छे मिल जाते हैं? आय के लिहाज से नहीं, डाक्टरी के अभ्यास के लिए?

बोले—हाँ, मिल ही जाते हैं। यही, हर दूसरे-चौथे दिन एक केस आ जाता है। नीचे बड़े अस्पतालों में भी...।

मालती आँगन से ही सुन रही थी, अब आ गयी, बोली—हाँ, केस बनाते देर क्या लगती है? काँटा चुभा था, उस पर टाँग काटनी पड़े, यह भी कोई डाक्टरी है? हर दूसरे दिन किसी की टाँग, किसी की बाँह काट आते हैं, इसी का नाम है अच्छा अभ्यास!

महेश्वर हँसे। बोले—न काटें तो उसकी जान गवायें?

'हाँ! पहले तो दुनिया में काँटे ही नहीं होते होंगे? आज तक तो सुना नहीं था कि काँटों के चुभने से लोग मर जाते हैं।'

महेश्वर ने उत्तर नहीं दिया, मुस्करा दिये। मालती मेरी ओर देख कर बोली—ऐसे ही होते हैं डॉक्टर! सरकारी अस्पताल है न, क्या परवाह है। मैं तो रोज़ ही ऐसी बातें सुनती हूँ, अब कोई मर-मुर जाय तो खयाल ही नहीं होता। पहले तो रात-रात भर नींद नहीं आया करती थी।

तभी आँगन में खुले हुए नल ने कहा—टिप, टिप, टिप, टटटिप...।

मालती ने कहा—'पानी!'—और उठ कर चली गयी। 'खन-खन' शब्द से हमने जाना, बर्तन धोये जाने लगे हैं।

टिटी महेश्वर की टाँगों के सहारे खड़ा मेरी ओर देख रहा था। अब एकाएक उन्हें छोड़कर मालती की ओर खिसकता हुआ चला। महेश्वर ने कहा—'उधर मत जा!'—और उसे गोद में उठा लिया। वह मचलने और चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगा।

महेश्वर बोले—अब रो-धोकर सो जायगा, तभी घर में चैन पड़ेगी!

मैंने [illegible] हैं? गर्मी तो बहुत होती है?

'होने को तो मच्छर भी बहुत होते हैं; पर ये लोहे के पलँग उठा कर बाहर कौन ले जाय! अब को नीचे जायेंगे, तो चारपाइयाँ ले आयेंगे।'—फिर कुछ रुककर बोले—'आज तो बाहर ही सोयेंगे। आपके आने का इतना लाभ ही होगा!'

टिटी अभी तक रोता ही जा रहा था। महेश्वर ने उसे एक पलँग पर बिठा दिया, और पलँग बाहर खींचने लगे। मैंने कहा—'मैं मदद करता हूँ'—और दूसरी ओर से पलँग उठाकर बाहर निकलवा दिये।

अब हम तीनों—महेश्वर, टिटी और मैं, दो पलँगों पर बैठ गये और वार्त्तालाप के लिए उपयुक्त विषय न पाकर उस कमी को छिपाने के लिए टिटी से खेलने लगे। बाहर आकर वह कुछ चुप हो गया था; किन्तु बीच-बीच में जैसे एकाएक कोई भूला हुआ कर्त्तव्य यदि करके रो उठता था और फिर एकदम चुप हो जाता था...और तब कभी-कभी हम हँस पड़ते थे, या महेश्वर उसके बारे में कुछ बात कह देते थे...।

मालती बर्तन धो चुकी थी। जब वह उन्हें लेकर आँगन के एक ओर रसोई के छप्पर की ओर चली, तब महेश्वर ने कहा—थोड़े से आम लाया हूँ, वे भी धो लेना।

'कहाँ हैं ?'

'अँगीठी पर रखे हैं—कागज में लिपटे हुए।'

मालती ने भीतर जाकर आम उठाये और अपने आँचल में डाल लिये। जिस कागज में वे लिपटे हुए थे, वह किसी पुराने अखबार का टुकड़ा था। मालती चलती-चलती सन्ध्या के उस क्षीण प्रकाश में उसी को पढ़ती जा रही थी... वह नल के पास जाकर खड़ी उसे पढ़ती रही, जब दोनों ओर पढ़ चुकी, तब एक लम्बी साँस लेकर उसे फेंक कर आम धोने लगी।

मुझे एकाएक याद आया...बहुत दिनों की बात थी—जब हम अभी स्कूल में भरती हुए ही थे। जब हमारा सब से बड़ा सुख, सब से बड़ी विजय थी, हाजिरी हो चुकने के बाद चोरी से क्लास से निकल भागना और स्कूल से कुछ दूर पर आम के बगीचे में पेड़ों पर चढ़ कर कच्ची अमियाँ तोड़-तोड़ कर खाना। मुझे याद आया—कभी जब मैं भाग आता था और मालती नहीं आ पाती थी, तब मैं भी खिन्न मन लौट जाया करता था...।

मालती कुछ नहीं पढ़ती थी, उसके माता-पिता तंग थे। एक दिन उसके पिता ने उसे एक पुस्तक लाकर दी, और कहा कि इसके बीस पेज रोज पढ़ा करो। हफ्ते भर बाद मैं देखूँ कि इसे समाप्त कर चुकी हो। नहीं तो मार-मार कर चमड़ी उधेड़ दूँगा। मालती ने चुपचाप किताब ले ली; पर क्या उसने पढ़ी ? वह नित्य ही उसके

दस पन्ने, बीस पेज फाड़ कर फेंक देती, अपने खेल में किसी भाँति फर्क न पड़ने देती। जब आठवें दिन उसके पिता ने पूछा—'किताब समाप्त कर ली ?' तो उत्तर दिया—'हाँ, कर ली।' पिता ने कहा—'लाओ, मैं प्रश्न पूछूँगा।'—तो चुप खड़ी रही। पिता ने फिर कहा, तो उद्धत स्वर में बोली—किताब मैंने फेंक दी है। मैं नहीं पढ़ूँगी

उसके बाद वह बहुत पिटी, पर वह अलग बात है...इस समय मैं यही सोच रहा था कि वही उद्धत और चञ्चल मालती आज कितनी सीधी हो गयी है, कितनी शान्त, और एक अखबार के टुकड़े को तरसती है...यह क्या है—

तभी महेश्वर ने पूछा—'रोटी कब बनेगी ?'

'बस, अभी बनाती हूँ।'

पर, अब की बार जब मालती रसोई की ओर चली, तब टिटी की कर्त्तव्य-भावना बहुत विस्तीर्ण हो गयी। वह मालती की ओर हाथ बढ़ाकर रोने लगा और नहीं माना, नहीं माना। मालती उसे भी गोद में लेकर चली गयी। रसोई में बैठकर एक हाथ से उसे थपकने और दूसरे से कईएक छोटे-छोटे डिब्बे उठा कर अपने सामने रखने लगी...

और हम दोनों चुपचाप रात्रि की, और भोजन की; और एक-दूसरे के कुछ कहने की, और न जाने किस-किस न्यूनता की पूर्ति की, प्रतीक्षा करने लगे।

हम भोजन कर चुके थे, और बिस्तरों पर लेट गये थे। टिटी सो गया था, मालती उसे अपने पलँग के एक ओर मोमजामा बिछाकर उस पर लिटा गयी थी। वह सो तो गया था; पर नींद में कभी-कभी चौंक उठता था। एक बार तो उठकर बैठ भी गया था; तुरन्त ही लेट गया।

मैंने महेश्वर से पूछा—आप तो थके होंगे, सो जाइए।

वे बोले—थके तो आप अधिक होंगे—अठारह मील पैदल चल कर आये हैं।—किन्तु उनके स्वर ने मानो जोड़ दिया—थका तो मैं भी हूँ।

मैं चुप हो रहा। थोड़ी ही देर में किसी अपर संज्ञा ने मुझे बताया, वे ऊँघ रहे हैं।

तब लगभग साढ़े दस बजे थे। मालती भोजन कर रही थी।

मैं थोड़ी देर मालती की ओर देखता रहा। वह किसी विचार में (यद्यपि बहुत गहरे विचार में नहीं) लीन हुई धीरे-धीरे खाना खा रही थी। फिर मैं इधर

उधर खिसक कर, पलँग पर आराम से होकर आकाश की ओर देखने लगा।

पूर्णिमा थी। आकाश अनभ्र था।

मैंने देखा––उस सरकारी क्वार्टर की दिन में अत्यन्त शुष्क और नीरस लगने वाली स्लेट की छत की स्लेटें भी चाँदनी में चमक रही है, मानो चन्द्रिका उन पर से बहती हुई आ रही हो, झर रही हो...।

मैंने देखा––पवन में चीड़ के वृक्ष––गर्मी से सूख कर मटमैले हुए चीड़ के वृक्ष––धीरे-धीरे गा रहे हैं––कोई राग जो कोमल है, किन्तु करुण नहीं; अशान्तिमय है, किन्तु उद्वेगमय नहीं...।

मैंने देखा––प्रकाश से धुँधले नील आकाश के पट पर जो चमकदार नीरव उड़ान से चक्कर काट रहे हैं, वे भी सुन्दर दीखते हैं...

मैंने देखा––दिन भर की तपन, अशान्ति, थकान, दाह, पहाड़ों में से भाप की नाँई उठ कर वातावरण में खोये जा रहे हैं, और ऊपर से एक कोमल, शीतल, सम्मोहन, आह्लाद-सा बरस रहा है, जिसे ग्रहण करने के लिए पर्वत-शिशुओं ने अपनी चीड़-वृक्ष-रूपी भुजाएँ आकाश की ओर बढ़ा रखी हैं...।

पर वह सब मैंने ही देखा, अकेले, मैंने...महेश्वर ऊँघ रहे थे, और मालती उस समय भोजन से निवृत्त होकर, दही जमाने के लिए मिट्टी का बर्तन गरम पानी से धो रही थी और कह रही थी––'बस, अभी छुट्टी हुई जाती है।' और मेरे कहने पर कि 'ग्यारह बजनेवाले हैं, धीरे [illegible] रोज ही इतने बज जाते हैं...मालती ने वह सब कुछ नहीं देखा। मालती का जीवन अपनी रोज की नियत गति से बहा जा रहा था और एक चन्द्रमा की चन्द्रिका के लिए, एक संसार के सौन्दर्य के लिए, रुकने को तैयार नहीं था...।

चाँदनी में शिशु कैसा लगता है, इस अलस जिज्ञासा से मैंने टिटी की ओर देखा। और वह एकाएक मानो किसी शैशवोचित कामना से उठा और खिसक कर पलँग से नीचे गिर पड़ा, और चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगा। महेश्वर ने चौंक कर कहा––'क्या हुआ?' मैं झपट कर उसे उठाने दौड़ा, मालती रसोई से बाहर निकल आयी, मैंने उस 'खट'! शब्द को याद करके, धीरे से करुणा भरे स्वर में कहा––चोट बहुत लग गयी बिचारे के...!

यह सब मानो एक ही क्षण में, एक ही क्रिया की गति में हो गया।

मालती ने रोते हुए शिशु को मुझसे लेने के लिए हाथ बढ़ाते हुए कहा––

पिंजरा

शान्ति ने ऊब कर कागज के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और उठ कर अनमनी-सी कमरे में घूमने लगी। उसका मन स्वस्थ नहीं था, लिखते-लिखते उसका ध्यान बँट जाता था। केवल चार पंक्तियाँ वह लिखना चाहती थी; पर वह जो कुछ लिखना चाहती थी, उससे लिखा न जाता था। भावावेश में कुछ-का-कुछ लिख जाती थी। छः पत्र वह फाड़ चुकी थी, यह सातवाँ था।

घूमते-घूमते, वह चुपचाप खिड़की में जा खड़ी हुई। सन्ध्या का सूरज दूर पश्चिम में डूब रहा था। माली ने क्यारियों में पानी छोड़ दिया था और दिन-भर के मुरझाये फूल जैसे जीवन-दान पाकर खिल उठे थे। हल्की-हल्की ठंडी हवा चलने लगी थी। शान्ति ने दूर सूरज की ओर निगाह दौड़ायी——पीली-पीली सुनहरी किरणें, जैसे डूबने से पहले, उन छोटे-छोटे बच्चों के खेल में जी-भर हिस्सा ले लेना चाहती थीं, जो सामने के मैदान की हरी-भरी घास पर उन्मुक्त खेल रहे थे। सड़क पर दो कमीन युवतियाँ, हँसती चुहलें करतीं, उछलती-कूदती चली जा रही थीं। शान्ति ने एक दीर्घ निश्वास छोड़ा और मुड़कर उसने अपने इर्द-गिर्द एक थकी हुई निगाह दौड़ायी——छत पर बड़ा पंखा धीमी आवाज से अनवरत चल रहा था। दरवाजों पर भारी पर्दे हिल रहे थे और भारी कोच और उन पर रखे हुए रेशमी गद्दे, गलीचे और दरम्यान में रखे हुए छोटे-छोटे अठकोने मेज और उन पर पीतल के नन्हें-नन्हें हाथी और फूलदान——और उसने अपने-आप को उस पक्षी-सा महसूस किया, जो विशाल, स्वच्छन्द आकाश के नीचे, खुली स्वतन्त्र हवा में आम की डाली से बँधे हुए पिंजरे में लटक रहा हो।

तभी नौकर उसके छोटे लड़के को जैसे बरबस खींचता-सा लाया। धोबी की लड़की के साथ वह खेल रहा था। आव देखा न ताव और शान्ति ने लड़के को पीट दिया——क्यों तू उन कमीनों के साथ खेलता है, क्यों खेलता है तू! इतने बड़े बाप का बेटा होकर! और उसकी आवाज चीख की हद को पहुँच गयी। हैरान से खड़े नौकर ने बढ़कर जबर्दस्ती बच्चे को छुड़ा लिया। शान्ति जाकर धम-से कोच में धँस गयी और उसकी आँखों से अनायास ही आँसू बह निकले!

तब वहीं बैठे-बैठे उसकी आँखों के सामने अतीत के कई चित्र फिर गये !

उसके पति तब लांडरी का काम करते थे । बाइबिल सोसाइटी के सामने जहाँ आज एक दन्दानसाज बड़े धड़ल्ले से लोगों के दाँत उखाड़ने में निमग्न रहते हैं; उनकी लांडरी थी । आय अच्छी थी; पर खर्च भी कम न था । ३५ रुपया तो दूकान का किराया ही देना पड़ता था और फिर कपड़े धोने और स्त्री करने के लिए जो तबेला ले रखा था, उसका किराया अलग था । इसके अतिरिक्त धोबियों का वेतन, कोयले, मसाला और सौ दूसरे पचड़े ! इस सब खर्च की व्यवस्था के बाद जो थोड़ा-बहुत बचता था, उससे बड़ी कठिनाई के साथ घर का खर्च चलता था और घर उन्होंने दूकान के पीछे ही महीलाल स्ट्रीट में ले रखा था ।

महीलाल स्ट्रीट जैसी अब है, वैसी ही तब भी थी । मकानों का रूप यद्यपि इन दस वर्षों में कुछ बदल गया है; किन्तु मकानों में कुछ अधिक अन्तर नहीं आया । अब भी इस इलाके में कमीन बसते हैं और तब भी बसते थे । सील-भरी अँधेरी कोठरियाँ चमारों, धोबियों और शुद्ध हिन्दुओं का निवास-स्थान थीं । एक ही कोठरी में रसोई, बैठक, शयन-गृह—और वह भी ऐसा, जिसमें सास-ससुर, बेटा-बहू, लड़कियाँ-लड़के, सब एक साथ सोते हों ।

जिस मकान में शान्ति रहती थी, उसके नीचे टेंडी चमार अपने आठ लड़के-लड़कियों के साथ रहता था, दूसरी चौड़ी गली में मारवाड़ी की दूकान थी और जिधर दरवाजा था, उधर भंगी रहते थे । उनके दरवाजे से जरा ही परे भंगियों ने तंदूर लगा रखा था, जिसका धुआँ सुबह-शाम उनकी रसोई में आ जाया करता था, जिससे शान्ति को प्रायः रसोई की खिड़की बन्द रखनी पड़ती थी । दिन-रात वहाँ चारपाइयाँ बिछी रहती थीं और कपड़ा बचाकर निकलना प्रायः असम्भव होता था ।

गर्मियों के दिन थे और म्यूनिसिपैलिटी का नल काफ़ी दूर अनारकली के पास था, इसलिए गरीब लोगों की सहूलियत के खयाल से शान्ति ने अपने पति की सिफारिश पर नीचे डेवढ़ी के नल से उन्हें पानी लेने की इजाजत दे दी; किन्तु जब उन्हें उस मकान में आये कुछ दिन बीते, तो शान्ति को मालूम हो गया कि यह उदारता बड़ी महँगी पड़ेगी । एक दिन जब उसके पति नहाने के बाद साबुन की [illegible] आये और शान्ति उसे उठाने गयी, तो उसने उसे नदारद पाया, फिर कुछ दिन बाद तौलिया गायब हो गया, और इसी तरह दूसरे-तीसरे

पति को इधर ला सकी थी और उन्होंने जी-भर खाया-पिया और खरीद किया था। अनारकली के मध्य बंगाली रसगुल्लों की जो दूकान है, वहाँ से रसगुल्ले खाने को शान्ति का बड़ा मन होता था; पर उसके पति को कभी इतनी फुर्सत ही न हुई थी कि वहाँ तक सिर्फ रसगुल्ले खाने के लिए जा सकें। अस्पताल रोड के सिरे पर हलवाई के साथ चाटवाले की जो दूकान है, वहाँ से चाट खाने को शान्ति की बड़ी इच्छा थी; पर चाट-ऐसी निकम्मी चीज खाने के लिए काम छोड़कर जाने का अवकाश शान्ति के पति के पास कहाँ? कई दिनों से वह अपने उम्मी के लिए कुछ गर्म कपड़ों के टुकड़े खरीदना चाहती थी। सर्दी बढ़ रही थी और उसके पास एक भी कोट न था। और फिर गरम कपड़ा न सही, वह चाहती थी कि कुछ ऊन ही मोल ले ली जाय, ताकि नन्हें का स्वेटर बुन दिया जाय; पर उसके पति 'हूँ'-हाँ' करके टाल जाते थे, किन्तु उस दिन वह निरन्तर महीने-भर तक अनुरोध करने के बाद उन्हें अपने साथ अनारकली ले जाने में सफल हुई थी। और उस दिन उन्होंने जी-भर बंगाली के रसगुल्ले और चाटवाले की चटपटी चाट खायी थी, बल्कि धलुए में मोहन के पकौड़े और मटरोंवाले आलुओं के स्वाद भी चक्खे थे। फिर उम्मी के लिए कपड़ा भी खरीदा था और ऊन भी मोल ली थी और दो आने दर्जन ब्लेडोंवाली गुडबोग की डिबिया तथा एक कालगेट साबुन की दो आनेवाली टिकिया उसके पति ने भी खरीदी थी। कई दिनों से वे उन्हीं पुराने ब्लेडों को शीशे के ग्लास में तेज करके नहाने वाले साबुन ही से हजामत बनाते आ रहे थे और उस दिन शान्ति ने यह सब खरीदने के लिए उन्हें विवश कर दिया था। और दोनों जने यह सब खरीद कर खर्च करने के आनन्द की अनुभूति से पुलकित चले आ रहे थे।

दिसम्बर का महीना था और सूखा जाड़ा पड़ रहा था। शान्ति ने अपने सस्ते, पर गरम शाल को नन्हें के गिर्द और अच्छी तरह लपेटते हुए अचानक कहा—निगोड़ा सूखा जाड़ा पड़ रहा है। सुनती हूँ नगर में बीमारी फैल रही है।

पर उसके पति चुपचाप धुएँ के कारण कड़वी हो जाने वाली अपनी आँखों को रूमाल से मलते चले आ रहे थे।

शान्ति ने फिर कहा—हमारी अपनी गली में कई लोग बीमार हो गये हैं परसों टेंडो चमार का लड़का निमोनिया से मर गया।

तभी शाल में लिपटा-लिपटा बच्चा हल्के-हल्के दो बार खाँसा और शान्ति ने उसे और भी अच्छी तरह शाल में लपेट लिया।

उसकी बात को सुनी-अनसुनी करके उसके पति ने कहा—आज बेहद बद-परहेजी की है, पेट में सख्त गड़बड़ी हो रही है।

घर आकर शान्ति ने जब लड़के को चारपाई पर लिटाया और मस्तक पर हाथ फेरते हुए उसके बालों को पिछली तरफ किया, तो वह चौंककर पीछे हटी। उसने डरी हुई निगाहों से अपने पति की ओर देखा। वे सिर को हाथों में दबाये नाली पर बैठे थे।

'उम्मी का माथा तो तवे की तरह तप रहा है—उसने बड़ी कठिनाई से गले को अचानक अवरुद्ध कर देनेवाली किसी चीज को बरबस रोक कर कहा।

लेकिन उसके पति को कै हुई।

शान्ति का कण्ठ अवरुद्ध-सा होने लगा था और उसकी आँखें भर-सी आयी थीं; पर अपने पति को कै करते देख बच्चे का खयाल छोड़ वह उनकी ओर भागी। पानी लाकर उनको कुल्ला कराया। निढाल-से होकर वे चारपाई पर पड़ गये; पर कुछ ही क्षण बाद उन्हें फिर कै हुई।

शान्ति के हाथ-पाँव फूल गये। घर में वह अकेली। सास, माँ पास नहीं, कोई दूसरा नाता-रिश्ता भी समीप नहीं और नौकर—नौकर रखने की गुंजाइश ही कभी नहीं निकली। वह कुछ क्षण के लिए घबरा गयी। एक उड़ी-उड़ी-सी दृष्टि उसने अपने ज्वर से तपते हुए बच्चे और बदहजमी से निढाल पति पर डाली। अचानक उसे गोमती का ख्याल आया। शान्ति अकेली कभी गली में नहीं उतरी थी; पर सब संकोच छोड़ वह भागी-भागी नीचे गयी। अपनी कोठरी के बाहर, गली की ओर, मात्र ईटों के छोटे-से पर्दे की ओट से बने हुए, रसोईघर में बैठी गोमती रोटी बेल रही थी और चूल्हे की आग से उसका काला मुख चमक-सा रहा था। शान्ति ने देखा—उसका बड़ा भाई अभी खाना खाकर उठा है। तब आगे बढ़कर उसने इशारे से गोमती को बुलाया। तवे को नीचे उतार और लकड़ी को बाहर खींचकर गोमती उसी तरह भागी आयी। तब विनीत भाव से संक्षेप में शान्ति ने अपने पति तथा बच्चे की हालत का उल्लेख किया और फिर प्रार्थना की कि वह अपने भाई से कहकर तत्काल किसी डाक्टर को बुला दे। उनकी कोठरी के साथ ही जिस डाक्टर की दूकान है, वह सुना है पास ही लाजपत रोड पर रहता है, यदि वह आ जाय, तो बहुत ही अच्छा हो। और फिर साड़ी के छोर से पाँच रुपये का एक नोट खोल, शान्ति ने गोमती के हाथ में रख दिया कि फीस पहले ही क्यों

न देनी पड़े; पर डाक्टर को ले अवश्य आयें। और फिर चलते-चलते उसने यह भी प्रार्थना की कि रोटी पकाकर सम्भव हो, तो तुम ही जरा आ जाना, उम्मी . .।

शान्ति का गला भर आया था। गोमती ने कहा था—आप घबरायें नहीं, मैं अभी भाई को भेज देती हूँ और मैं भी अभी आयी—और यह कहकर वह भागती-सी चली गयी थी।

शान्ति वापस मुड़ी, तो सीढ़ियाँ चढ़ते-चढ़ते उसने महसूस किया कि शंका और भय से उसके पाँव काँप रहे हैं और उसका दिल धक-धक कर रहा है।

ऊपर जाकर उसने देखा—उसके पति ऊपर से उतर रहे हैं। हाथ में उनके खाली लोटा है, चेहरा पहले से भी पीला हो गया है, और माथे पर पसीना छूट गया है।

शान्ति के उड़े हुए चेहरे को देखकर उन्होंने हँसने का प्रयत्न करते हुए कहा—घबराओ नहीं, सर्दियों में हैजा नहीं होता।

शान्ति ने रोते हुए कहा—आप ऊपर क्यों गये, वहीं नाली पर बैठ जाते; किन्तु जब पति ने नाली की ओर और फिर चारपाई पर पड़े हुए बीमार बच्चे की ओर इशारा किया, तो शान्ति चुप हो गयी। उसने पहले सहारा देकर पति को बिस्तर पर लिटाया, फिर नाली पर पानी गिराया, फिर दूसरे कमरे में बिस्तर बिछा, बच्चे को उस पर लिटा आयी। तभी गोमती आ गयी। खाना तो सब खा चुके थे, अपने हिस्से का आटा उठा, आग बुझा, वह भाग आयी थी।

शान्ति ने कहा—मैं उम्मी को उधर कमरे में लिटा आयी हूँ। मुझे डर है उसे सर्दी लग गयी है। साँस उसे और भी कठिनाई से आने लगी है और खाँसी भी बढ़ गयी है। निचली कोठरी में पड़े हुए पुराने लिहाफ से कपड़े ले लो और अँगीठी में कोयले डाल उसकी छाती पर जरा उससे सेंक दो। इनके पेट में गड़बड़ है मैं इधर इसका कुछ उपचार करती हूँ। कुछ नहीं तो गरम पानी करके बोतल ही फेरती हूँ।

गोमती ने कहा—इन्हें बीबीजी कोई हाजमे की चीज दो। हमारे घर तुम्मे की अजवाइन है! मैं उसमें से कुछ लेती आयी हूँ, जब तक डाक्टर आये, उसे ही जरा गरम पानी से इन्हें दे दो।

बिना किसी तरह की हिचकिचाहट के शान्ति ने मैली-सी पुड़िया में बँधी काली-सी अजवाइन ले ली थी और गोमती अँगीठी में कोयले डाल नीचे कपड़े

लेने भाग गयी थी ।

बाहर शाम बढ़ चली थी । वहीं कमरे के अँधेरे में बैठे-बैठे शान्ति की आँखों के आगे चिन्ता और फ़िक्र के वे सब दिन-रात फिर गये । उनके पति को हैजा तो न था; किन्तु गैस्ट्रोऐन्टिराइटिस (Gastro-enteritis) तीव्र किस्म का था । डाक्टर के आने तक शान्ति ने गोमती के कहने पर उन्हें तुर्मे की अजवाइन दी थी, प्याज भी सुँघाया था और गोमती अँगीठी उठाकर दूसरे कमरे में बच्चे को छाती पर सेंक देने चली गयी थी । डाक्टर के आने पर मालूम हो गया था कि उसे निमोनिया हो गया है और अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है ।

शान्ति अपने पति और अपने बच्चे, दोनों की एक साथ कैसे तीमारदारी करती, उसने अपनी विवशता से गोमती की ओर देखा था; पर उसे होंठ हिलाने की जरूरत न पड़ी थी, बच्चे की सेवा-शुश्रूषा का समस्त भार गोमती ने अपने कंधों पर ले लिया था । शान्ति को मालूम भी न हुआ था कि वह कब घर जाती है, कब घरवालों को खाना खिलाती है या खाती है या खिलाती खाती भी है या नहीं । उसने तो जब देखा, उसे छाया की भाँति बच्चे के पास पाया । कई दिन तक एक ही जून खाकर गोमती ने बच्चे की तीमारदारी की थी ।

दोपहर का समय था, उसके पति दूकान पर गये हुए थे । उम्मी को भी अब आराम था और वह उसकी गोद से लगा सोया पड़ा था और उसके पास ही फर्श पर टाट बिछाये गोमती पुराने ऊन के धागों से स्वेटर बुनना सीख रही थी । इतने दिनों की थकी-हारी उनींदी शान्ति की पलकें धीरे-धीरे बन्द हो रही थीं, वह उन्हें खोलती थी; पर वे फिर बन्द हो-हो जाती थीं । आखिर वह वैसी ही पड़ी-पड़ी सो गयी थी । जब वह फिर उठी, तो उसने देखा, उम्मी रो रहा है और गोमती उसे बड़े [illegible] कर लोरी दे रही है । शान्ति ने फिर आँखें बन्द कर लीं । उसने सुना गोमती धीमे-धीमे स्वर से गा रही थी—

आ री कक्को, जा री कक्को, जंगल पक्को बेर
भैया हाथे ढेला, चिड़ैया उड़े जा ।

और फिर—

आ री चिड़ैया ! दो पप्पड़ पकाये जा !
भैया हांथे ढेला, चिड़ैया उड़े जा !

बच्चा चुप कर गया था । लोरी खत्म करके उसने बच्चे को ग

चूम लिया। शान्ति ने अर्ध-निमीलित आँखों से देखा, बच्चे के पीले जर्द सूखे-से मुख पर गोमती का काला स्वस्थ मुख झुका हुआ है। सुख के आँसू उसकी आँखों में उमड़ आये। उसने उठ कर गोमती से बच्चे को ले लिया था और जब वह फिर टाट पर बैठने लगी थी, तो दूसरे हाथ से शान्ति ने उसका हाथ पकड़ चारपाई पर बिठाते हुए, उसे अपने बाजू से बाँध लिया था और कहा था—आज से तुम मेरी बहिन हुई गोमती !

आँखें बन्द किये शान्ति इन्हीं स्मृतियों में गुम थी, उसकी आँखों से चुपचाप आँसू बह रहे थे कि अचानक उसके पति अन्दर दाखिल हुए। किसी जमाने में लांडरी चलानेवाले और समय पड़ने पर, स्वयं अपने हाथ से स्त्री गरम करके कपड़ों को प्रेस करने में भी हिचकिचाहट न महसूस करने वाले ला० दीनदयाल और लाहौर की प्रसिद्ध फर्म 'दीनदयाल एण्ड सन्स' के मालिक प्रख्यात शेयर ब्रोकर लाला दीनदयाल में महान् अन्तर था। इस दस वर्ष के अर्से में उनके बाल यद्यपि पक गये थे, किन्तु शरीर कहीं अधिक स्थूल हो गया था। ढीले-ढाले और प्रायः लांडरी के मालिक होते हुए भी मैले कपड़े पहनने की जगह अब उन्होंने अत्यन्त बढ़िया किस्म का रेशमी सूट पहन रखा था और पाँवों में श्वेत रेशमी जुराबें तथा काले सैंडल पहने हुए थे।

शान्ति ने झट रूमाल से आँखें पोंछ लीं।

बिजली का बटन दबाते हुए उन्होंने कहा—यहाँ अँधेरे में क्या पड़ी हो। उठो बाहर बाग में घूमो-फिरो और फिर बोले—इन्द्रानी का फोन आया था कि बहिन यदि चाहें, तो आज सिनेमा देखा जाय।

बहिन—दिल-ही-दिल में विषाद से शान्ति मुस्करायी और उसके सामने एक ओर काली-कलूटी-सी लड़की का चित्र खिंच गया, जिसे कभी उसने बहिन कहा था। किन्तु प्रकट उसने सिर्फ इतना कहा—मेरी तबीयत ठीक नहीं !

मुँह फुलाये हुए ला० दीनदयाल बाहर चले गये।

तब आँखों को फिर एक बार पोंछ कर और तनिक स्वस्थ होकर, शान्ति मेज के पास आयी और कुर्सी पर बैठ, पैड अपनी ओर को खिसका, कलम उठा कर उसने लिखा—

बहिन गोमती,

तुम्हारी बहिन अब बड़ी बन गयी है। बड़े आदमी की बीबी है। बड़े आद-

नियों की बीवियाँ अब उसकी बहिनें हैं। पिंजरे में बन्द पक्षी को कब इजाजत होती है कि स्वच्छन्द, स्वतन्त्र विहार करने वाले अपने हमजोलियों से मिले ? मैंने तुम्हें कल फिर आने के लिए कहा था; पर अब तुम कल न आना। अपनी इस बंदिनी बहिन को भूलने की कोशिश करना।

इस बार उसने एक पंक्ति भी नहीं काटी और न कागज ही फाड़ा। हाँ, एक बार लिखते-लिखते फिर आँखें भर आने से जो एक-दो आँसुओं की बूँदें पत्र पर अनायास ही गिर पड़ी थीं, उन्हें उसने ब्लाटिंग पेपर से सुखा दिया था। फिर पत्र को लिफाफे में बन्द करके उसने नौकर को आवाज दी और उसके हाथ में लिफाफा देकर कहा कि महीलाल स्ट्रीट में पूर्बियों के मन्दिर के पुजारी की लड़की गोमती को दे आये। और फिर समझाते हुए कहा—गोमती, कुछ ही दिन हुए अपनी ससुराल से आयी है।

पत्र लेकर नौकर चला ही था कि शान्ति ने उसे फिर आवाज दी और पत्र उसके हाथ से लेकर फाड़ डाला। फिर धीरे से उसने कहा—तुम गोमती से कहना कि बीबी अचानक आज मैके जा रही हैं और दो महीने तक वापस न लौटेंगी।

यह कहकर वह फिर खिड़की में जा खड़ी हुई और अस्त हो जानेवाले सूरज के स्थान पर ऊपर को ओर बढ़ते हुए अँधेरे को देखने लगी।

बात इतनी ही थी कि आज दोपहर को जब वे ब्रिज खेल रहे थे, तब नौकर ने आकर खबर दी थी कि महीलाल स्ट्रीट के पुजारी की लड़की गोमती आयी है। तब खेल को बीच ही में छोड़ कर, और भूलकर कि उसके पार्टनर राय साहब लाला बिहारीलाल हैं, वह भाग गयी थी और उसने गोमती को अपनी भुजाओं में भींच लिया था और फिर वह उसे अपने कमरे में ले गयी थी, तब दोनों बहुत देर तक अपने दुःख-सुख की बातें करती रही थीं। शान्ति ने जाना था कि किस प्रकार गोमती का पति काम करने लगा, उसे ले गया और उसे चार बच्चों की माँ बना दिया और गोमती ने उम्मी का और दूसरे बच्चों का हाल पूछा था। ला० दीनदयाल इस बीच में कई बार बुलाने आये थे, पर वह न गयी थी और जब दूसरे दिन आने का वादा लेकर उसने गोमती को विदा किया था, तो उसके पति ने कहा था—तुम्हें शर्म नहीं आती, उस उजड्ड और गँवार औरत को लेकर तुम बैठी

एटम बम

चेतना लौटने लगी। साँस में गंधक की तरह तेज़ बदबूदार और दम घुटाने-वाली हवा भरी हुई थी। कोबायाशी ने महसूस किया कि बम के उस प्राण-घातक धड़ाके की गूँज अभी-भी उसके दिल में धँस रही है। भय अभी-भी उस पर छाया हुआ है। उसका दिल जोर-जोर से धड़क रहा है। उसे साँस लेने में तकलीफ होती है, उसकी साँस बहुत भारी और धीमी चल रही है।

हारे हुए कोबायाशी का जर्जर मन इन दोनों अनुभवों से खीझ कर कराह उठा। उसका दिल फिर गफ़लत में डूबने लगा। होश में आने के बाद, मृत्यु के पञ्जे से छूटकर निकल आने पर जो जीवनदायिनी स्फूर्ति और शान्ति उसे मिलनी चाहिए थी, उसके विपरीत यह अनुभव होने से ऊब कर, तन और मन की सारी कमजोरी के साथ वह चिढ़ उठा। जीवन कोबायाशी के शरीर में अपने अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए विद्रोह करने लगा। उसमें बल का संचार हुआ।

कोबायाशी ने आँखें खोलीं। गहरे कुहासे की तरह दम घुटाने वाला जहरीला धुआँ हर तरफ छाया हुआ था। उसके स्पर्श से कोबायाशी को अपने रोम-रोम में हज़ारों सुइयाँ चुभने का-सा अनुभव हो रहा था। रोम-रोम से चिनगारियाँ छूट रही थीं। उसकी आँखों में भी जलन होने लगी; पानी आ गया। कोबायाशी ने घबराकर आँखें मींच लीं।

लेकिन आँखें बन्द कर लेने से तो और भी ज़्यादा दम घुटता है। कोबायाशी के प्राण घबरा उठे। वे कहीं भी सुरक्षित न थे। मौत अँधेरे की तरह उस पर छाने लगी। यह हीनावस्था की पराकाष्ठा थी। कोबायाशी की आत्मा रो उठी। हार कर उसने फिर अपनी आँखें खोल दीं। हठ के साथ वह उन्हें खोले ही रहा। जहरीला धुआँ लाल-मिर्च के पाउडर की तरह उसकी आँखों में भर रहा था। लाख तकलीफ़ हो, मगर वह दुनिया को कम-से-कम देख तो रहा है। बम गिरने के बाद भी दुनिया अभी नेस्तनाबूद नहीं हुई—आँखें खुली रहने पर यह तसल्ली तो उसे हो ही रही है। गर्दन घुमा कर उसने हिरोशिमा की धरती को देखा, जिस पर वह पड़ा हुआ था। धरती के लिए उसके मन में ममत्व जाग उठा। कमजोर हाथ आप-ही-आप

आगे बढ़ कर अपने नगर की मिट्टी को स्पर्श करने का सुख अनुभव करने लगे।

...मन कहीं खोया। अपने अन्दर उसे किसी जबरदस्त कमी का एहसास हुआ। यह एहसास बढ़ता ही गया। आन्तरिक हृदय से सुख का अनुभव करते ही उसकी कल्पना दुःख की ओर प्रेरित हुई। स्मृति झकोले खाने लगी।

चेतन बुद्धि पर छाये हुए भय से बचने के लिए अन्तर-चेतना की किसी बात की विस्मृति का मोटा पर्दा पड़ रहा था। मौत के चंगुल से छूटकर निकल आने पर, पार्थिवता की बोझ-स्वरूप धरती के स्पर्श से, जीवन को स्पर्श करने का सुख उसे प्राप्त हुआ था; परन्तु भावना उत्पन्न होते ही उसके सुख में घुन भी लग गये। भय ने नींवें डगमगा दीं। अपनी अनास्था को दबाने के लिए वह बार-बार जमीन को छूता था। अन्तर के अविश्वास को चमत्कार का रूप देते हुए, इस खुली जगह में पड़े रहने के बावजूद अपने जीवित बच जाने के बारे में उसे भगवान् की लीला दिखाई देने लगी।

करुणा सोते की तरह दिल से फूट निकली। पराजय के आँसू इस तरह अपना रूप बदल कर दिल में घुमेड़े ले रहे थे। ज़हरीले धुएँ के कारण आँखों में भरे हुए पानी के साथ-साथ वे आँसू भी घुल-मिलकर गाल से ढुलकते हुए ज़मीन पर टपकने लगे।

बेहोश होने से कुछ मिनट पहले उसने जिस प्रलय को देखा था, उसकी विक-रालता अपने पूरे वज़न के साथ कोबायाशी की स्मृति पर आघात करके उसके टुकड़े-टुकड़े कर रही थी। वह ठीक-ठीक सोच नहीं पा रहा था कि जो दृश्य उसने देखा, वह सत्य था क्या? ...धड़ाका! जूड़ी-बुखार की कँपकँपी की तरह ज़मीन काँप उठी थी। बम था—दुश्मनों का हवाई हमला। हज़ारों लोग अपने प्राणों की पूरी शक्ति लगाकर चीख उठे थे। ...कहाँ हैं वे लोग? वे प्राणान्तक चीखें, वह आर्त्तनाद जो बम के धड़ाके से भी अधिक ऊँचा उठ रहा था—वह इस समय कहाँ है? खुद वह इस समय कहाँ है? और...

कुछ खो देने का एहसास फिर हुआ। कोबायाशी विचलित हुआ। उसने कराहते हुए करवट बदल कर उठने की कोशिश की; लेकिन उसमें हिलने की भी ताब न थी। उसने फिर अपनी गर्दन जमीन पर डाल दी। हवा में काले-काले ज़र्रे भरे हुए थे। धुआँ, गर्मी, जलन, प्यास—उसका हलक सूखा जा रहा था। बेचैनी बढ़ रही थी। वह उठना चाहता था। उठकर वह अपने चारों तरफ़ देखना चाहता

जार करो।' वह फिर बाहर आकर अस्पताल के नीचे ही कंकड़ों की कच्ची सड़क पर सिगरेट पीते हुए टहलने लगा था। आज उसने काम से भी छुट्टी ले रखी थी। वह बहुत खुश था। ——जब अचानक आसमान पर कानों के पर्दे फाड़ने वाला धमाका हुआ था। अंधा बना देनेवाली तीव्र प्रकाश की किरणें कहीं से फूटकर चारों तरफ बिखर गयीं। पलक मारते ही काले धुएँ की मोटी चादर बादलों से घिरे हुए आसमान पर तेजी से बिछती चली गयी। काले धुएँ की बरसात होने लगी। चमकते हुए विद्युत्कण सारे वातावरण में फैल गये थे। सारा शरीर झुलस गया; दम घुटने लगा था। सैकड़ों चीखें एक साथ सुनाई दी थीं। इस अस्पताल से भी आयी होंगी। दीवार उसी तरफ गिरी है। और उन चीखों में उसकी पत्नी की चीख भी जरूर शामिल रही होगी।...कोबायाशी का दिल तड़प उठा। उसे अपनी पत्नी को देखने की तीव्र उत्कंठा हुई।

होश में आने के बाद पहली बार कोबायाशी को अपनी पत्नी का ध्यान आया था। बहुत देर से जिसकी स्मृति खोयी हुई थी, उसे पाकर कोबायाशी को एक पल के लिए राहत हुई। इससे उसकी उत्कंठा का वेग और भी तीव्र हो गया।

साल-भर पहले उसने विवाह किया था। एक वर्ष का यह सुख उसके जीवन की अमूल्य निधि बन गया था। दुख, यातना और संघर्ष के पिछले चौबीस वर्षों के मरुस्थल-से जीवन में आज की यह महायंत्रणा जुड़कर सुख-शांति के एक वर्ष को पानी की एक बूँद की तरह सोख गयी थी।

बचपन में ही उसके माँ-बाप मर गये थे। एक छोटा भाई था, जिसके भरण-पोषण के लिए कोबायाशी को दस बरस की उम्र में ही बुजुर्गों की तरह मर्द बनना पड़ा था। दिन और रात जी तोड़ कर मेहनत-मजूरी की, उसे शाहजादे की तरह पाल-पोस कर बड़ा किया। तीन बरस हुए वह फ़ौज में भरती होकर चीन की लड़ाई पर चला गया। और फिर कभी न लौटा।

अपने भाई को खोकर कोबायाशी जिन्दगी से ऊब गया था। जीवन से लड़ने के लिए उसे कहीं से प्रेरणा नहीं मिलती थी। वह निराश हो चुका था। बेवा मकान-मालकिन की लड़की उसके जीवन में नया रस ले आयी। उनका विवाह हुआ।... और उसके घर में एक नयी जिन्दगी आने वाली थी। आज सबेरे से ही वह बड़े जोश में था। उसके सारे जोश और उल्लास पर यह गाज गिरी! जहरीले धुएँ की तपिश ने उसके अन्तर तक को भून दिया था। वेदना असह्य हो गयी थी——

और चेतना लुप्त हो गयी।

अपनी पत्नी से मिलने के लिए कोबायाशी सब खोकर तड़प रहा था। वह जैसे बच गया। वैसे ही भगवान् ने शायद उसे भी बचा लिया हो; लेकिन दीवार तो उधर गिरी है।—"नहीं!"

—कोबायाशी चीख उठा। होश में आने के बाद पहली बार उसका कंठ फूटा था। सारे शरीर में उत्तेजना की एक लहर दौड़ गयी। स्वर की तेज़ी से उसके सूखे हुए निष्प्राण कंठ में खराश पैदा हुई। प्यास फिर होश में आयी। कोबायाशी के लिए बैठा रहना असह्य हो गया। अन्दरूनी ज़ोम का दौरा कमज़ोर शरीर को झिंझोड़ कर उठाने लगा। दीवार का सहारा लेकर वह अपने पागल जोश के साथ तेजी से उठा। वह दौड़ना चाहता था। दिमाग में दौड़ने की तेजी लिए हुए, कमजोर और डगमगाते हुए पैरों से वह धीरे-धीरे अस्पताल के फाटक की तरफ बढ़ा।

फाटक टूट कर गिर चुका था। अन्दर मलबा-मिट्टी ज़मीन की सतह से लगा हुआ पड़ा था। कुछ नहीं—वीरान! जैसे यहाँ कभी कुछ बना ही न था। सब मिट्टी और खंडहर! दूर-दूर तक वीरान—खाली! खाली! खाली! उसकी पत्नी नहीं है। उसकी दुनिया नहीं है। वह दुनिया, जो उसने पच्चीस बरसों तक देखी, समझी और बरती थी, आज उसे कहीं भी नहीं दिखाई पड़ती। सपने की तरह वह काफ़ूर हो चुकी है।

मीलों तक फैली हुई वीरानी को देखकर वह अपने को भूल गया, अपनी पत्नी को भूल गया। इस महानाश के विराट् शून्य को देखकर उसका अपनापन उसी में विलीन हो गया। उसकी शक्ति उस महाशून्य में लय हो गयी। जीवन के विपरीत यह अनास्था उसे चिढ़ाने लगी। टूटी दीवार का सहारा छोड़ कर वह बेतहाशा दौड़ पड़ा। वह ज़ोर-ज़ोर से चीख रहा था—"मुझे क्यों मारा? मुझे क्यों मारा?" —मीलों तक उजड़े हुए हिरोशिमा नगर के इस खंडहर में लाखों निर्दोष प्राणियों की आत्मा बन कर पागल कोबायाशी चीख रहा था—"मुझे क्यों मारा? मुझे क्यों मारा?"

* * *

कैम्प अस्पताल में हजारों ज़ख्मी और पागल लाये जा रहे थे। डॉक्टरों को फुर्सत नहीं, नर्सों को आराम नहीं; लेकिन इलाज कुछ भी नहीं हो रहा था। क्या इलाज करें? चारों ओर चीख-चिल्लाहट, दर्द और यंत्रणा का हंगामा! "गोरा—

ार रहा है; फिर निर्माण का दूसरा जरिया ही क्या रहा ? फेंक दो उन जिन्दा ाशों को, हिरोशिमा की वीरान धरती पर! —या उन्हें ज़हर दे दो! अस्पताल ौर डॉक्टरों का अब दुनिया में कोई काम नहीं रहा।"

नर्स के पास इन फ़िजूल की बातों के लिए समय नहीं था।—नये मरीज़ आ ़हे हैं। सैकड़ों अस्पताल में पड़े हैं। वह डॉक्टर पर झुंझला उठी—

"यह वक्त इन बातों का नहीं है डॉक्टर! हमें जिन्दगी को बचाना है। यह ़मारा पेशा है, फर्ज है। एटम की शक्ति से हार कर क्या हम इन्सान और इन्सा- ेयत को चुपचाप मरते हुए देखते रहेंगे? चलिए, आइए, मरीजों को इंजेक्शन ़गाना है, आगे का काम करना है।"

नर्स डॉक्टर सुजुकी का हाथ पकड़ कर तेज़ी से आगे बढ़ गयी।